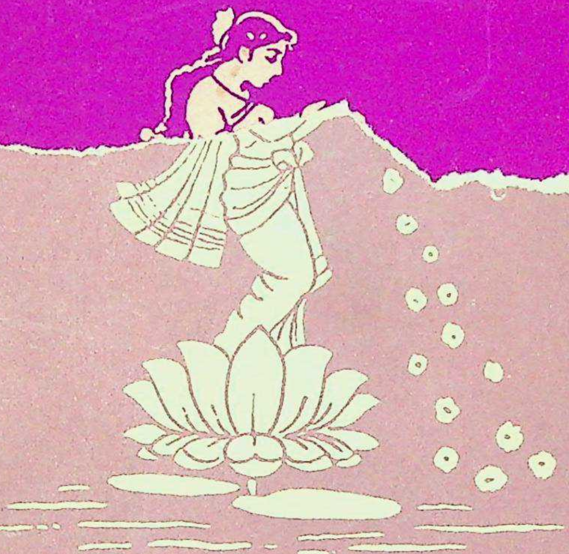

भारवि-काव्य में अर्थान्तरन्यास

८९१'०१
२ भ

डॉ० उमेश प्रसाद रस्तोगी

चौखम्बा प्रकाशन

2433

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

८२

भारवि-काव्य में अर्थान्तरन्यास

डॉ० उमेश प्रसाद रस्तोगी

एम० ए०, पी-एच० डी०

क्रमसंख्या 2433
प्राप्ति तिथि 2.3.65
State Museum, Library, Lko.

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६५

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२१
मूल्य : ६-००

© The Chowkhamba Vidya Bhawan,
Chowk, Varanasi-1
(INDIA)
1965

Phone : 3076

891.01
र ग

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
82

BHĀRAVI-KĀVYA
ME
ARTHĀNTARANYĀSA

(Arthāntaranyāsa in Bhāravi's Poetry)

BY

DR. UMESH PRASĀD RASTOGĪ,
M. A., Ph. D.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1965

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Publishers & Antiquarian Book-Sellers

POST BOX 8. VARANASI-1 (India) PHONE : 3145

OPINION

K. A. Subramania Iyer

Ex. Vice-Chancellor, Lucknow University

Ex. Vice-Chancellor, Varanaseya Sanskrit University

I have seen the work entitled "Bharavi-Kavya me Arthantaranyasa" by Dr. Umesh Prasad Rastogi. Though the title does not give any indication of it the work is a comparative and historical study of the subject. The author comes to the subject proper in Pt. 11. He traces the concept of Arthantaranyasa in the different works on Alankara, beginning from the Agnipurana and states clearly and in detail the final definition as adopted by authors like Panditaraja Jagannatha. After having given examples of Arthantaranyasa from the works of a large number of Sanskrit poets, he takes up for study the 115 cases of this alankara found in the Kiratarjuniyam. The study shows the authors critical insight and analytical faculty. The comparative treatment of the subject is particularly welcome. It is a good sign that at last, detailed studies of particular alankaras are being undertaken by young scholars. The several comparative tables found at the end of the work will be very useful. I hope that the book will find many readers.

आचार्य श्री रामकुबेर मालवीय

(प्राध्यापक : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी)

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि श्रीउमेश प्रसाद रस्तोगी एम० ए० (संस्कृत) पी०-एच० डी० ने भारवि काव्य में अर्थान्तरन्यास नामक बड़ी सुन्दर समीक्षात्मक पुस्तक लिखी है। इसमें उपयोगी तथा अनुसंधानात्मक सभी विषयों का समावेश है जो रत्न और काञ्चन के संयोग को सूचित करता है। आशा है इससे संस्कृत साहित्य को बड़ा बल मिलेगा और संस्कृत भाषा की महत्ता का परिचय होगा। मुझ को इस पुस्तक को देख बड़ी प्रसन्नता हुई है कि रचयिता ने थोड़े से समय में कैसी विद्वत्ता प्राप्त की है। भगवान् इन को चिरञ्जीव करें और संस्कृत साहित्य में अपूर्व प्रेम देवें।

डॉ० सत्यव्रत सिंह

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग तथा अध्यक्ष, कला विभाग
(डीन, फेकेल्टी आफ आर्ट्स)
लखनऊ विश्वविद्यालय

शताब्दियों से महाकवि भारवि के अर्थगौरव की प्रसिद्धि होती आ रही है और भारवि काव्य के प्रेमी तथा मर्मज्ञ लोग अपनी अपनी दृष्टि से 'भारवेरर्थगौरवम्' का विश्लेषण करते आ रहे हैं। डा० उमेश प्रसाद रस्तोगी की लिखी 'भारवि काव्य में अर्थान्तरन्यास' नाम की यह पुस्तक भारवि के अर्थगौरव का एक विशुद्ध विश्लेषण है। इस विश्लेषण में डा० उमेश प्रसाद ने भारवि के प्रिय काव्यालंकार अर्थान्तर-न्यास के ऐतिहासिक किंवा वास्तविक—दोनों प्रकार के महत्वों का युक्तिपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। महाकवि भारवि के काव्य की विशेषता के सम्बन्ध में रची यह पुस्तक अपने ढंग की पहली पुस्तक है। मुझे पूर्ण आशा है कि संस्कृत काव्य के प्रेमी पाठक इसका पूरा लाभ उठायेंगे और इसकी प्रेरणा से भारवि विषयक साहित्य की उत्तरोत्तर श्रीवृद्धि होगी।

प्राक्कथन

छठी शताब्दी के विश्रुत महाकवि भारवि के सम्बन्ध में प्रायः प्रसिद्धि है—'भारवेरर्थगौरवम्'। उनके एकमात्र काव्य किरातार्जुनीय में इस अर्थ-गौरव को प्रदान करने का श्रेय अर्थान्तरन्यास अलंकार को ही है। भारवि ने अन्य अलंकारों की अपेक्षा अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग सर्वाधिक किया है। यही नहीं तुलनात्मक अध्ययन से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने एक ही कृति में संस्कृत साहित्य के किसी भी अन्य कवि की अपेक्षा सर्वाधिक अर्थान्तरन्यासों की अभिव्यञ्जना की है। इन अर्थान्तरन्यासों में भारवि की लोकजीवन सम्बन्धी समस्त मान्यताएँ निहित हैं।

भारवि के अर्थान्तरन्यासों के मूल्याङ्कन के लिए यह आवश्यक था कि उनका संस्कृत साहित्य के अन्य महाकवियों एवं नाटककारों के अर्थान्तरन्यासों से तुलनात्मक अध्ययन किया जाये। आवश्यक होने के कारण संस्कृत वाङ्मय की समस्त कृतियों का अध्ययन न करके केवल प्रमुख महाकवियों जैसे कालिदास, अश्वघोष, माघ व श्रीहर्ष आदि तथा नाटककारों जैसे भास, शूद्रक, कालिदास, भवभूति तथा भट्टनारायण इत्यादि की ही रचनाओं का अनुशीलन किया गया है जिनकी तालिकायें परिशिष्ट में संकलित हैं। यद्यपि महाकाव्यों की अपेक्षा नाटकों में अर्थान्तरन्यास अलंकार के प्रयोग का अवसर कम रहता है जैसा कि संकलन करते समय और भी अधिक स्पष्ट हुआ किन्तु फिर भी उनका महत्त्व रहता ही है इसलिए उनको भी सम्मिलित किया गया है।

इस लघु प्रयास की सफलता, इससे संस्कृत साहित्य के प्रेमी पाठकों के लाभान्वित होने में निहित है।

मैं अपने पूज्य गुरुदेव प्रोफेसर डॉ० सत्यव्रत सिंह जी डी० लिट् के प्रति किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ जिनके मार्गदर्शन से यह कार्य सम्भव हो सका है। मेरी मूकवाणी ही उनके प्रति मेरी श्रद्धाञ्जलि है।

उमेश प्रसाद

विषय-सूची

भाग १

परिचय खण्ड

प्रथम अध्याय 1-16

भारवि का समय, जन्मस्थान व जीवनवृत्त

भारवि का समय

अन्तःसाक्ष्य

प्रामाणिक अन्तःसाक्ष्य का अभाव बाह्यसाक्ष्य

ऐहोलशिलालेख, पृथिवी कोणिका दानपत्र (शक संवत् ६९८), काशिकावृत्ति में भारवि का उल्लेख (छठी शताब्दी), अवन्तिसुन्दरीकथा में भारवि सम्बन्धी उद्धरण, अवन्तिसुन्दरीकथासार में भारवि सम्बन्धी उद्धरण, वामन (आठवीं शती) द्वारा भारवि के श्लोकों का उद्धरण, शिशुपालवध पर किरातार्जुनीय की छाया से भारवि की पूर्वकालिकता।

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर ईसा की छठी शताब्दी के प्रारम्भिक काल में भारवि की स्थिति।

भारवि का स्थान

स्पष्ट जानकारी का अभाव

अन्तःसाक्ष्य

(१) समुद्र के थपेड़ों की उपमा से दक्षिण भारत के वासी के रूप में निश्चय।

(२) इन्द्रकील पर्वत के वर्णन से उत्तरी भारत के निवासी सिद्ध होना। इन्द्रकील पर्वत (सिक्किम) के आसपास आदिवासियों (किरातों) की बस्ती के आधार पर गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य द्वारा भी उत्तर भारत का निवासी मानना।

बाह्यसाक्ष्य

अवन्तिसुन्दरीकथा के अनुसार नासिक (दक्षिण भारत) के निवासी।

जीवनवृत्त

जीवनवृत्त के सम्बन्ध में प्रचलित दो दन्तकथाएँ दण्डीकृत अवन्ति-सुन्दरीकथा में विवरण, अवन्तिसुन्दरीकथासार में विवरण : पण्डित हरिदत्त शास्त्री का मत ।

द्वितीय अध्याय १७–२१

भारवि का कर्तृत्व

किरातार्जुनीयम्··· एकमात्र कृति, आतपत्र भारवि···से भी कर्तृत्व की सिद्धि किरातार्जुनीयम् के ३६ टीकाकार

काव्यशास्त्र में किरातार्जुनीय श्लोकों के उद्धरण

वामन द्वारा काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में किराता० के श्लो० का उद्धरण

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वन्यालोक में ,, ,, ,,

महिमभट्ट द्वारा व्यक्तिविवेक में ,, ,, ,,

मम्मट द्वारा काव्यप्रकाश में ,, ,, ,,

रुय्यक द्वारा अलंकारसर्वस्व में ,, ,, ,,

भोज द्वारा सरस्वतीकण्ठाभरण में ,, ,, ,,

विश्वनाथ द्वारा साहित्यदर्पण में ,, ,, ,,

नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा अलंकारमहोदधि में ,, ,, ,,

इनसे द्योतित भारवि की कृति का साफल्य सम्बन्ध सूक्तियाँ और किरातार्जुनीयम् ।

तृतीय अध्याय २२–३१

भारवि का व्यक्तित्व

बाह्य साक्ष्य का अभाव

अन्तःसाक्ष्य

किरातार्जुनीय के आधार पर उनके व्यक्तित्व का निर्धारण श्रृंगार-प्रिय नहीं, गम्भीर प्रकृति, स्वाभिमानी याचनावृत्ति के विरोधी, यशःप्रिय, पराक्रमी, पुरुषार्थी, कूटनीतिज्ञ, नीच लोगों के साथ मित्रता अथवा शत्रुता के विरोधी, क्षमाशील, उदार, न्यायशील, त्यागी तथा लक्ष्मी के प्रति अनासक्त, जातिधर्म के पक्षपाती, पाण्डित्यप्रदर्शनप्रिय ।

चतुर्थ अध्याय ३२–३३

भारवि के काव्य से परिलक्षित तत्कालीन दशा और परिस्थितियाँ।

पञ्चम अध्याय ३४–५१

भारवि का पाण्डित्य, उन पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव तथा परवर्ती कवियों को उनकी देन

मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के कारण परस्पर प्रभाव आवश्यक।

(क) पूर्ववर्ती ग्रन्थों का प्रभाव

कौटिलीय अर्थशास्त्र	और	किरातार्जुनीय
पञ्चतन्त्र	,,	,,
सांख्यदर्शन	,,	,,
योगदर्शन	,,	,,
रघुवंश	,,	,,
बुद्धचरित	,,	,,
मुद्राराक्षस	,,	,,
नीतिशतक	,,	,,
वैराग्यशतक	,,	,,

(ख) परवर्ती साहित्य को भारवि की देन

शिशुपालवध	और	किरातार्जुनीय
नैषधीयचरित	,,	,,
व्यक्तिविवेक	,,	,,
कर्पूरमञ्जरी	,,	,,
हितोपदेश	,,	,,

षष्ठ अध्याय ५२–५६

किरातार्जुनीय के उपजीव्य काव्य के रूप में महाभारत

महाभारत उपजीव्यकाव्य के रूप में किरातार्जुनीय और महाभारत का वनपर्व। महाभारत के कथानक में आवश्यक परिवर्तन महाभारत के पात्र और किरातार्जुनीय के पात्र-तुलना।

सप्तम अध्याय ५७–६१

किरातार्जुनीय महाकाव्य के रूप में

महाकाव्य के लक्षण।
किरातार्जुनीय का इतिवृत्त।
किरातार्जुनीय लक्ष्म्यन्त काव्य।
किरातार्जुनीय का नायक तथा अंगीरस।
किरातार्जुनीय का संस्कृत साहित्य में स्थान।

अष्टम अध्याय ६२–७७

भारवि काव्य की समीक्षा

(१) भारवि का अर्थगौरव
(२) भारवि की भाषा
(३) भारवि का लोक दर्शन
(४) भारविकाव्य में चरित्र-चित्रण
(५) भारविकाव्य में रसयोजना
(६) भारविकाव्य में अलंकार योजना
(७) भारविकाव्य में छन्दयोजना

भाग २

अर्थान्तरन्यास खण्ड

प्रथम अध्याय ८१–११८

भारवि के अर्थान्तरन्यास

भारवि के अर्थान्तरन्यासों का प्रकार, विवेचन, उनकी समीक्षा।
भारवि के अर्थान्तरन्यासों पर परिमाण की दृष्टि से विवेचना—
(क) भारवि के महाकाव्य के सम्पूर्ण श्लोकों की दृष्टि से।
(ख) भारवि के महाकाव्य में प्रयुक्त अलंकारों की दृष्टि से।
(ग) अन्य कवियों के काव्यों के अर्थान्तरन्यासों की दृष्टि से।

द्वितीय अध्याय ११९–१२३

किरातार्जुनीय में काव्यत्व और अर्थान्तरन्यास

प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित तथा कान्तासम्मित–त्रिविध वर्णन शैलियाँ। भारवि के अर्थान्तरन्यास कान्तासम्मित हैं, वे सरसतापादन सहित उचित अनुचित का निर्देश करते हैं।

तृतीय अध्याय १२४–१६०

भारवि के अर्थान्तरन्यासों से उद्घाटित उनकी विभिन्न क्षेत्रों में मान्यताएँ

राजनीतिविषयक विचार, मनोविज्ञानसम्बन्धी मान्यताएँ, प्रेमविषयक विचार, सज्जनविषयक विचार, सत्संगति, दुर्जनमैत्री, सामान्य व्यवहार, उद्योग, दैवविषयक विचार, संहति, गुण, शोभाविषयक विचार।

भारवि की श्रीसाधना

परिशिष्ट

(पृ० १६१–१९४)

१. किरातार्जुनीय में प्रयुक्त विभिन्न छन्दों की तालिका।
२. भारवि के महाकाव्य में प्रयुक्त विभिन्न छन्दों के लक्षण।
३. मुद्राराक्षस में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका
४. वेणीसंहार में ,, ,, ,, ,,
५. कर्पूरमंजरी में ,, ,, ,, ,,
६. भट्टिकाव्य में ,, ,, ,, ,,
७. मेघदूत में ,, ,, ,, ,,
८. अभिज्ञानशाकुन्तल में ,, ,, ,, ,,
९. विक्रमोर्वशीय में ,, ,, ,, ,,
१०. मालविकाग्निमित्र में ,, ,, ,, ,,
११. स्वप्नवासवदत्त में ,, ,, ,, ,,
१२. प्रतिज्ञायौगन्धरायण में ,, ,, ,, ,,
१३. उत्तररामचरित में ,, ,, ,, ,,

१४. बुद्धचरित में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका
१५. सौन्दरनन्द में ,, ,, ,, ,,
१६. रघुवंश में ,, ,, ,, ,,
१७. कुमारसम्भव में ,, ,, ,, ,,
१८. शिशुपालवध में ,, ,, ,, ,,
१९ नैषधीयचरित में ,, ,, ,, ,,
२०. किरातार्जुनीय में ,, ,, ,, ,,
२१. ,, ,, विविध अलंकारों की तालिका
२२. ,, ,, विविध बन्धों के लक्षण, उनके उदाहरण तथा चित्र।
२३. अवन्तिसुन्दरीकथा में भारवि के जीवन से सम्बन्धित उद्धरण।
२४. अवन्तिसुन्दरीकथासार में भारवि के जीवन से सम्बन्धित श्लोक।
२५. भारवि के महाकाव्य में अर्थान्तरन्यास से युक्त श्लोक।
२६. सहायक पुस्तकों की सूची।

भारवि-काव्य में अर्थान्तरन्यास

भाग १

परिचय खण्ड

प्रथम अध्याय

भारवि का समय, जन्मस्थान व जीवनवृत्त

भारवि का समय

हमारा संस्कृत साहित्य अत्यन्त सम्पन्न और अगाध है। वेद, वेदांग, उपनिषद् , दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र, काव्य, नाटक इत्यादि विविध विषयों के सैकड़ों ग्रन्थ अब तक प्रकाशित हो चुके हैं और सैकड़ों ग्रन्थ अब भी 'हस्तलिपियों' के रूप में किसी पुस्तक प्रकाशक की कृपादृष्टि की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त हमारे सैकड़ों अनमोल ग्रन्थ विधि की विडम्बना से अकाल ही में काल कवलित हो चुके हैं। हजारों वर्षों तक अनेक विद्वान लेखकों ने अपना अपार बुद्धिवैभव व्यय करके इस विशाल ग्रन्थ भंडार को शास्त्र-सम्पत्ति से भरा है। यह सब होते हुए भी इस विशाल भंडार में ऐतिहासिक ग्रन्थों का अभाव प्रत्येक संस्कृत साहित्य प्रेमी को खटकता है। यह बात नहीं कि ऐतिहासिक ग्रन्थ हमारे यहां हैं ही नहीं। हैं अवश्य, उदाहरणार्थ कल्हण कवि की 'राजतरंगिणी', बाण कवि का 'हर्षचरित', पद्मगुप्त का 'नवसाहसांकचरित' और बिल्हण कवि का 'विक्रमांकदेवचरित'। अंगुलियों पर गिनने लायक ये कुछ ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं। परन्तु इनमें से यथार्थ ऐतिहासिक सामग्री का निकालना कष्टसाध्य है। क्योंकि इनमें अंट संट घटनाओं, विचित्र कथा प्रबन्धों और अतिशयोक्तियों की इतनी भरमार है कि उनमें से ऐतिहासिक सत्य को ढूंढ निकालना असम्भव सा हो रहा है। जब हमें अपने प्रतापी पूर्वकालीन सम्राट अशोक, विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, भोज आदि राजाओं के शासनकाल की खास-खास घटनाओं तथा उनके गुण-दोषों का पूरा पूरा पता नहीं, तब उनके आश्रित कवियों, लेखकों और कलाकारों के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त कर लेना तो और भी मुश्किल है। यद्यपि भवभूति, बाण, राजशेखर, बिल्हण आदि कवियों ने स्वरचित ग्रन्थों में अपने वंश, पांडित्य और आश्रयदाता के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत उल्लेख अवश्य किया है, पर उससे आधुनिक युग के पुरातत्त्व प्रेमी पाठक को सन्तोष नहीं होता। फिर भी जिन्होंने अपने विषय में एक अक्षर तक नहीं लिखा, उन कवियों की अपेक्षा इन कवियों का दिया हुआ अपना अल्प परिचय ऐतिहासिक आधार के लिए सहायक है। अगर इन कवियों ने 'अहम्मन्यता' का दोष स्वीकार करके अपने ग्रन्थों में अपना थोड़ा बहुत परिचय न दिया होता तो उनके काल का भी निर्णय करने में विवाद बना रहता, क्योंकि यह निश्चय है कि समकालीन लेखकों द्वारा उनके जीवन-काल में अथवा मृत्यु

के बाद उनकी कितनी ही प्रशंसा की गई हो फिर भी उनका 'जीवन-चरित' लिखना किसी को न सूझता।

संस्कृत के अन्य कवियों की भांति भारवि के सम्बन्ध में भी कोई प्रामाणिक और स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती है। सप्तम शतक के आदिवर्ती बाण ने अपने ग्रन्थों के आरम्भ में कुछ उत्कृष्ट कवियों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की है। इनमें व्यास, कालिदास तथा प्रवरसेन आदि मुख्य हैं, किन्तु भारवि के सम्बन्ध में बाण का मौन संकेत करता है कि भारवि बाण से पूर्ववर्ती न थे अथवा उस समय तक उन्हें कोई विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त न हो सकी थी।

संस्कृत के कवियों की ऐतिहासिक जानकारी के सम्बन्ध में एक दूसरा स्रोत है अभिलेख। पूर्वकालीन राजे-महाराजे विजयों के उपरान्त विजयस्तम्भों की स्थापना किया करते थे तथा उनमें काव्यमयी शैली में कुछ ऐतिहासिक तथ्य अंकित कर दिया करते थे। इसी प्रकार दान में दी जाने वाली सम्पत्ति के अर्पण के अवसर पर ताम्रपत्रों के लेखन की भी परम्परा थी। इन अभिलेखों में उनके लेखकों (कवियों) की भी चर्चा आवश्यक मानी जाती थी तथा कहीं-कहीं पूर्ववर्ती श्रेष्ठ कवियों के प्रति श्रद्धांजलि की भी परम्परा थी जो आज हमारे लिए संस्कृत साहित्य के इतिहास के लिए अमूल्य निधि सिद्ध होती है।

महाकवि भारवि के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार कुछ अभिलेखों में जानकारी प्राप्त होती है। दक्षिण भारत के बीजापुर जिले में स्थित ऐहोल (आयहोली) नामक ग्राम में जैन कवि रविकीर्ति के मन्दिर में एक प्राचीन शिलालेख प्राप्त हुआ है। उक्त शिलालेख के लेखक रविकीर्ति, चालुक्य नरेश पुलकेशिन् द्वितीय के समसामयिक तथा आश्रित कवि थे। शिलालेख में लिखा है कि "इस शिलालेख की प्रशस्ति की रचना करनेवाला और इस त्रिजगत गुरु जिनके मन्दिर का निर्माण करनेवाला स्वयं रविकीर्ति ही है। इसका निर्माण महाभारत युद्ध के ३७७५ और शक सम्वत् के ५५६ वर्ष व्यतीत होने पर हुआ।"[1] इस शिलालेख में रविकीर्ति ने अपने आश्रयदाता चालुक्य

---

१. प्रशस्तेर्वसतेश्चापि जिनस्य त्रिजगदगुरोः।
कर्ता कारयिता चापि रविकीर्तिः कृती स्वयम् ॥
त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः।
सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु ॥
पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चाशतेषु च।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम् ॥
ऐहोलशिलालेख

नरेश पुलकेशिन् द्वितीय सत्याश्रय के वंश तथा स्वयं उसी की विस्तृत प्रशस्ति भी लिखी है एवं अन्त में कविकुलगुरु कालिदास तथा भारवि के नामों का भी उल्लेख[1] करते हुए लिखा है कि "जिस विद्वान् एवं विवेकी रविकीर्ति ने इस जिन मन्दिर के निर्माण का आयोजन किया वह कवित्व के क्षेत्र में भी कालिदास और भारवि के समान ही यशस्वी था।" रविकीर्ति का आश्रयदाता पुलकेशिन् द्वितीय का राज्यकाल भी ६४२ ई० के आस-पास था जो कि रविकीर्ति के शिलालेख में दिए हुए काल से पूर्णतः साम्य रखता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारवि का समय रविकीर्ति के समय से अवश्य ही कुछ पूर्व रहा होगा।

किरातार्जुनीय महाकाव्य का उल्लेख दक्षिण भारत के एक अन्य परम प्राचीन लेख में पाया जाता है। यह लेख दक्षिण भारत के किसी पृथ्वी कोंगणि नामक राजा का दानपत्र है। उसने श्रीपुर नामक नगर की उत्तर दिशा में विद्यमान एक जिन मन्दिर की अर्चा-पूजादि के व्यय के लिए एक ग्राम का दान किया था। उसी का उल्लेख इस दानपत्र में है। उक्त दानपत्र मान्यपुर नामक नगर में ६९८ शक संवत् में लिखा गया था।[2] दानपत्र उस समय की प्रचलित परम्परा के अनुसार गद्य और पद्य दोनों में है। इस लेख के आरम्भ में दाता राजा पृथ्वीकोंगणि की वंशावलि दी गई है जिसके वंश में अविनीत नामक राजा का कोई दुर्विनीत नामक पुत्र था। यह बहुत बड़ा विद्वान् था। इसने भारवि के किरातार्जुनीयम् के पन्द्रह सर्गों पर टीका लिखी थी।[3]

इसी दुर्विनीत की सात पीढ़ियों के अनन्तर दानदाता राजा पृथ्वीकोंगणि हुआ था। जैसा कि पहले उद्धृत किया जा चुका है इस दानपत्र का समय शक सम्वत् ६९८ अर्थात् सन् ७७६ ई० होता है। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिए

---

१. येनायोजि नवे श्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥
ऐहोलशिलालेख

२. 'अष्टानवत्युत्तरशतेषु शकवर्षेष्वावर्तितेषु'
पृथ्वीकोंगणि का दानपत्र

३. 'स्वस्ति जितं भगवता गतघनगगनाभेन पद्मनाभेन; ...
...............श्रीमत्कोंगणमहाराजाधिराजस्य
अविनीतनाम्नः पुत्रेण............किरातार्जुनीयपंच-
दशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।"
पृथ्वीकोंगणि का दानपत्र

कम से कम पच्चीस वर्ष रक्खें तो भी दुर्विनीत राजा का समय इससे १७५ वर्ष पूर्व अवश्य मानना होगा। इस प्रकार दुर्विनीत का राज्यकाल सन् ६०० ई० के आस-पास सिद्ध होता है जो कि रविकीर्ति का समय था। इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि ईस्वी सन् के सप्तम शतक के आदिकाल में ही दक्षिण भारत के लोग महाकवि भारवि और उनकी मनोरम रचना किरातार्जुनीयम् से सुपरिचित हो चुके थे। इस आधार पर भी महाकवि भारवि का समय ईसा की छठी शताब्दी से पूर्व ही निश्चित होता है।

अभिलेखों के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के विशाल उपवन में भी भारवीय सौरभ का साक्षात्कार विभिन्न स्थलों पर होता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी के टीकाकार जयादित्य वामन ने भी अपनी काशिकावृत्ति में भारवि का उल्लेख किया है। प्रो० कीथ के अनुसार[१] यह वृत्ति इत्सिङ्ग (चीनी यात्री) की भारत-यात्रा से पूर्व लिखी गई थी। ऐतिहासिकों के अनुसार इत्सिंग का यात्राकाल ६७२ ई० रहा है। इसके अनुसार काशिकावृत्ति का रचनाकाल ईसा की छठी शताब्दी सिद्ध होता है। इसके आधार पर भारवि का समय भी ईसा की छठी शताब्दी से पूर्व ही मानना उचित होगा।

आचार्य दण्डीकृत 'अवन्तिसुन्दरीकथा' तथा अवन्तिसुन्दरीकथासार (एक अन्य ग्रन्थ) के आधार पर भारवि दण्डी के पितामह थे।[२] तथा प्रो० मैक्समूलर[३], वेवर[४], प्रो० मैडोनल[५] तथा कर्नल जैकब[६] आदि के अनुसार दण्डी का समय छठी शताब्दी है। इस आधार पर भी भारवि का स्थिति-काल छठी शताब्दी का आदिकाल या उससे पूर्व मानना चाहिए।

महाकवि माघ के शिशुपालवध में भारवि के किरातार्जुनीय की छाया पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है। इसका विशद विवेचन 'भारवि पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव और परवर्ती कवियों को उनकी देन' इस अध्याय में किया जायगा। माघ पर भारवि के प्रभाव को देखकर भी हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास' ले० प्रो० ए० बी० कीथ, पृष्ठ ५०९

२. अवन्तिसुन्दरीकथा तथा अवन्तिसुन्दरीकथासार के उद्धरणों को परिशिष्ट में देखिए।

३. 'India what can it teach us' Edition 1, P. 332

४. 'History of Sanskrit Literature' P. 232

५. ,, ,, ,, ,, P. 434

६. 'Journal of the Royal Asiatic Society' year 1897, P. 287

भारवि माघ के स्थितिकाल सप्तम शताब्दी से[1] निश्चित रूप से पूर्ववर्ती थे।

इस प्रकार आठवीं शताब्दी के आचार्य वामन ने भी भारवि के श्लोक[2] को अर्थान्तरन्यास के उदाहरण के रूप में संगृहीत किया है। इसका तात्पर्य है कि भारवि इनके समय तक अत्यन्त प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुके थे तथा इस प्रसिद्धि के लिए लगभग एक शताब्दी भी रख लेने पर भारवि का समय ईसा की छठी शताब्दी या उससे पूर्व सिद्ध होता है।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर भारवि की अन्तिम सीमा ईसा की छठी शताब्दी मानी जा सकती है। भारवि की पूर्ववर्ती सीमा के लिए कोई स्पष्ट अन्तःसाक्ष्य नहीं मिलता है तथापि भारवि के महाकाव्य किरातार्जुनीयम् में अनेक स्थलों पर कालिदास के महाकाव्यों की छाया दृष्टिगोचर होती है जिसकी चर्चा 'भारवि पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव और परवर्ती कवियों को उनकी देन' इस अध्याय में की जायगी। भारवि पर कालिदास के प्रभाव को देखते हुए इन्हें निस्सन्देह कालिदास के पश्चात् रखना होगा। यद्यपि कालिदास के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है तब भी कोई भी विद्वान् उन्हें गुप्तकाल (ईसा की तीसरी शती से पांचवीं शती) के अनन्तर नहीं मानता है। फलतः भारवि की पूर्ववर्ती सीमा भी ईसा की पंचम शताब्दी निश्चित होती है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है बाण ने अपने हर्षचरित में कालिदास आदि की चर्चा करते हुए भी भारवि का नामोल्लेख भी नहीं किया है। इस आधार पर हम सोच सकते हैं कि सम्भवतः पूर्ववर्ती होने पर भी भारवि की प्रसिद्धि बाण के समय तक न हो सकी थी। इसका कारण भारवि का बाण से निकटवर्ती होना ही है।

फलतः यह निष्कर्ष निकलता है कि भारवि का स्थितिकाल ईसा के छठी शताब्दी का प्रारम्भिक काल रहा होगा।[3]

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास' ले० कीथ पृष्ठ १५२।

२ वामन ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में अर्थान्तरन्यास के उदाहरण के रूप में भारवि का निम्नलिखित श्लोक दिया है :

'प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसंनिधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद् विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि॥'
किरात० ८.३७।

३. (क) व्हियेना ओरियेण्टल सोसाइटी जरनल के तृतीय भाग पृष्ठ १४४ में जैकाबी महोदय ने षष्ठ शती का पूर्वार्द्ध भारवि का समय माना है।

(ख) पंडित सीताराम जयराम जोशी तथा विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में भारवि का समय षष्ठ शताब्दी माना है।

भारवि का जन्मस्थान

भारवि के स्थितिकाल के समान ही जन्मस्थान के सम्बन्ध में भी कोई स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं है। भारवि के काव्य में प्राप्त सामग्री के आधार पर ही कुछ लोगों का अनुमान है कि वे दक्षिण भारत में अवतीर्ण हुए होंगे। साथ ही किरातार्जुनीयम् के अठारहवें सर्ग में शिव और अर्जुन के द्वन्द्व युद्ध के अवसर पर शिव के वक्षस्थल पर अर्जुन के मुष्टि प्रहारों की उपमा भारवि ने सह्याद्रि के चरणों पर समुद्र की लहरों के थपेड़ों से की है।[1] इस आधार पर भी भारवि को दक्षिण प्रदेशीय मान सकते हैं इसके विपरीत भारवि ने जिस इन्द्रकील पर्वत का विस्तृत वर्णन किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार वह आधुनिक सिक्कम राज्य की सीमा पर अवस्थित हिमालय का एक अंगभूत पर्वत है और जो अब भी इसी नाम से विख्यात है। उस पर्वत के आस-पास भारवि के वर्णनानुसार किरातों अथवा आदिवासियों की बस्ती आज भी पाई जाती है। इस आधार पर श्री गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य इन्हें उत्तर भारत का निवासी मानते हैं किन्तु केवल काव्यगत वर्णनों के आधार पर ही इन्हें किसी प्रदेश विशेष का निवासी मानना ठीक नहीं है। विविध प्रदेशों के वर्णन तो प्रत्येक कवि के काव्य में यथास्थान आ ही जाते हैं। कालिदास आदि महाकवियों की रचना में समुद्र, हिमालय अथवा भूमण्डल के अनेक अञ्चलों में फैले हुए प्रदेशों का वर्णन प्राप्त होता है किन्तु उसके अनुसार उन सभी के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना उचित नहीं। बहुदर्शी तथा क्रान्तदर्शी होने के कारण कवि की रचना में विविध वर्णनों का होना तो स्वाभाविक है ही।

भारवि का महाकाव्य बहुत समय तक केवल दक्षिण भारत के विद्वानों में ही प्रसिद्ध रहा है। इस प्रसिद्धि के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि भारवि दक्षिण भारत के ही निवासी रहे हैं। अवन्तिसुन्दरीकथासार तथा अवन्तिसुन्दरीकथा के द्वारा उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि भी होती है। उक्त ग्रन्थों में भारवि के पूर्वजों का मूल स्थान पश्चिमोत्तर भारत में विद्यमान आनन्दपुर नामक स्थान बतलाया गया है। बाद में वे नासिक्य (दक्षिण भारत) में जा बसे थे।[2] कुछ आधुनिक विद्वानों के अनुसार यह नासिक्य शब्द दक्षिण भारत

---

१. उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुरर्जुनमुष्टयः।
भृशरया इव सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः॥

किरात० १८.५

२. N. C. Chatterji 'Home of Bharavi', Proceedings of Or. Conf. 1944.

के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। दण्डी भी इस शब्द को दक्षिण भारत के लिए प्रयुक्त करते हैं जहाँ पर कि कांची विद्यमान है। फलतः हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि भारवि का स्थान नासिक दक्षिण भारत में रहा है।

जीवनवृत्त

भारवि के जीवन के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव है किन्तु दन्तकथाओं की अधिकता है। इन दन्तकथाओं में कितना सत्य है और कितना अतिरंजित, इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। एक दन्तकथा के अनुसार उनके पिता का नाम श्रीधर और माता का नाम सुशीला था। भारवि का विवाह भृगुकच्छ (वर्तमान भडौंच) के चन्द्रकीर्ति नामक एक सद्गृहस्थ की कन्या रसिका (रसिकवती) के साथ हुआ था। भारवि के पिता व्याकरण और साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान थे। पिता के संस्कारों तथा प्रयत्नों से भारवि विद्वत्ता में उन्हें भी लांघ गए। अनेक राजसभाओं में सैकड़ों पंडितम्मानी विद्वानों को पराजित कर अक्षयकीर्ति प्राप्त की। यौवन में विजय प्राप्ति से भारवि को पांडित्य का दुरभिमान हो गया। अपने उदीयमान पुत्र के इस दुरभिमान से उनके पिता श्रीधर को अत्यधिक चिन्ता हुई। वे परम अनुभवी और बहुश्रुत व्यक्ति थे। पांडित्य ही नहीं उन्नति का समूल उच्छेद करने वाले अपने पुत्र के गर्वांकुर को शीघ्रातिशीघ्र समूल नष्ट करने के लिए तत्पर हो गए। एक दिन उन्होंने अपने इस नवयौवनोद्धत एवं दुरभिमानी पुत्र को एकान्त में बुलाकर कहा "पुत्र तुम्हारा दुरभिमान तुम्हारी उन्नति का शत्रु है। तुम पंडितों का अपमान न करो और अपने को संसार का अद्वितीय पंडित मत समझो।" किन्तु भारवि को पिता की ये बातें पसन्द न आईं। वे अपना अध्ययन-अध्यापन बन्द कर दिनरात अपने दुरभिमान के नशे में ही चूर रहने लगे। श्रीधर को इससे विशेष चिन्ता हुई। अब इन्होंने भारवि को सर्वसाधारण के बीच भी अपमानित करना आरम्भ कर दिया। जहां कहीं भारवि जाते वहीं श्रीधर भी पहुंच जाते और अवसर और अनवसर का विचार किए विना ही उनकी तीव्र निन्दा और भर्त्सना करने लगते। उनकी युक्तियों को निस्सार बताकर उन्हें महामूर्ख तथा अभिमानी सिद्ध करते। श्रीधर का भारवि के प्रति यह व्यवहार भी लोगों को बहुत विचित्र लगता। कुछ ने श्रीधर को इस कार्य के लिए मना भी किया किन्तु वे अपने इस कठोर कर्त्तव्य से विरत न हुए। भारवि को पिता का यह व्यवहार असह्य प्रतीत हुआ। उनका धैर्य भी सीमा तोड़ने को उद्यत हो उठा। एक दिन उन्होंने अपने पिता की हत्या करने का ही संकल्प कर लिया। उन्होंने निश्चय किया कि रात्रि में सोते समय तलवार के एक प्रहार से ही इस

विद्वेषी पिता की इहलीला समाप्त कर दी जाए, इसमें ही हमारा कल्याण है। क्रोध के आवेश में विवेक का उदय न हो सका और पिता की नृशंस हत्या के लिए वे रक्तपिपासु दानव के समान दिन भर क्रोधावेग से विक्षुब्ध रहकर अन्धकारपूर्ण रात्रि की प्रतीक्षा करते रहे। क्रोध के इस आवेग में उनका वह दिन निराहार ही व्यतीत हुआ।

उनके पिता श्रीधर भारवि की इस चिन्ता से तथा निराहार व्रत से बहुत दुःखी थे किन्तु अपने कृत्रिम क्रोध को यथापूर्व बनाए रहने के लिए इन्होंने भारवि से खाने पीने के सम्बन्ध में कुछ भी न कहा। भारवि का क्रोध इससे और द्विगुणित होता रहा और वे घर के एक कोने में छिपकर माता-पिता के सो जाने की प्रतीक्षा कर रहे थे। अपने होनहार पुत्र को भूख प्यास से व्याकुल और चिंतित छोड़कर निद्रा की गोद में विश्राम कर सकना माता-पिता के लिए भी कठिन हो रहा था। फलतः भारवि की ममतामयी माता ने उनकी (भारवि की) दिन भर की दुःखदायिनी उदासी और चिन्ता की चर्चा करते हुए एकान्त में उनके पिता से कहा : "क्या आपको ज्ञात नहीं कि आज भारवि ने भोजन करना तो दूर जल भी नहीं पिया है। वह प्रातःकाल से ही बहुत चिंतित, म्लान और विह्वल है।"

पिता—"मुझे ज्ञात तो है किन्तु इसका कारण क्या है ?"

माता—"कारण तो आप स्वयं हैं। ऐसे योग्य पुत्र की अहर्निश निन्दा आप स्वयं करते रहते हैं और उसकी उदासी तथा चिन्ता का कारण आप मुझसे पूछते हैं। पुत्र के प्रति आपके इस व्यवहार से मुझे बड़ा दुःख है। मैं तो समझ भी नहीं पाती कि आपके इस अकारण पुत्रद्रोह का क्या कारण है।"

पिता—"प्रिये। मैं तुमसे अपने हृदय की वेदना कैसे कहूं। मुझे स्वयं बड़ी ग्लानि है। किन्तु क्या करूं। यदि कर्त्तव्य की कठोरता से विचलित होता हूँ तो निश्चित है कि भारवि का भविष्य हमारी इच्छा के अनुरूप नहीं हो सकता है।"

माता—"मैं तो समझ भी नहीं पाती कि आप यह सब क्या कह रहे हैं। जिसकी दिनरात सर्वसाधारण के समक्ष आप निन्दा और भर्त्सना किया करते हैं उसके भविष्य की चिन्ता आपको क्यों है। मैं तो समझती हूं कि आप ही मेरे पुत्र के पांडित्य से ईर्ष्या करते हैं।" माता की वाणी इससे आगे न बढ़ सकी। वह अपने आन्तरिक दुःखों के आवेग से विह्वल होकर सिसक सिसक कर रोने लगी।

श्रीधर किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो कुछ क्षण चुप रहे। फिर अपनी शय्या पर उठकर बैठ गए और पत्नी को समझाते हुए बोले "मैं तुम्हारी चिन्ता को समझता हूँ और यह भी मानता हूं कि पिछले कुछ दिनों से मैं किस प्रकार

भारवि के समान महान पंडित पुत्र को अपमानित करने में लगा हूं। मैं भी भारवि को महान् पंडित मानता हूं किन्तु मैं चाहता हूं कि वह इससे भी बढ़कर विद्वान् और पंडित बने। इधर राजसभाओं में अनेक पंडितों को पराजित करने के बाद उसे यह दुरभिमान हो गया है कि 'मैं अद्वितीय पंडित हूं।' जब से उसके मन में यह कुबुद्धि उपजी है उसने शास्त्रों का अध्ययन छोड़ दिया है। तुम जानती हो कि शास्त्र किसी विद्वान् के सेवक नहीं। जो इनकी दिनरात सेवा करता है ये उसी के अधीन रहते हैं। जब भारवि कुछ अध्ययन-अध्यापन करेगा ही नहीं तो उसकी सम्पूर्ण विद्या नष्ट हो जायेगी। तुम जानती हो कि अभिमानी कि उन्नति अवरुद्ध हो जाती है। मैं नहीं चाहता कि मेरे ऐसे सुयोग्य और प्राणप्रिय पुत्र की उन्नति रुक जाए। उसकी अधिगत विद्याएं विस्मृत हो जाएँ और उसकी उज्ज्वल कीर्ति-कौमुदी त्रिभुवन को आलोकित किए बिना ही अज्ञान के घनान्धकार में तिरोहित हो जाए। यही कारण है कि मैं दिनरात उसे सत्पथ पर लाने के लिए निन्दा एवं भर्त्सना रूपी क्रूर अंकुशों का प्रयोग करता हूं। मुझे भी इनके प्रयोग से असह्य पीड़ा होती है किन्तु क्या करूं, कोई अन्य उपाय भी तो नहीं दीखता।"

इतना कहते कहते श्रीधर का कण्ठकुहर करुणा के प्रवाह से बोझिल हो उठा और एकान्त निशीथ के घनान्धकार में छिपे भारवि को भी यह समझने में देर नहीं लगी कि उसके विद्वान् एवं हितैषी पिता की आंखों में उसकी उन्नति की चिन्ता से जलती हुई आंसुओं की धारा अनवरत गति से नीचे को प्रवाहित हो रही है। भारवि का दुर्दान्त दानव अपने आप ही दूर भाग गया। उन पर वज्रपात सा हुआ अपने आराध्य पिता की अनुपम पुत्रवत्सलता को देखकर। उनका हृदय आंखों के रास्ते उमड़ पड़ा। रजनी के घनान्धकार में गृहकक्ष के एक कोने में छिपे हुए भारवि के कण्ठ की सिसकियां मर्यादा तोड़कर बाहर फूट पड़ीं और उनके माता-पिता को यह समझने में विलम्ब नहीं लगा कि भारवि उनके समीप ही कहीं खड़े होकर रो रहे हैं।

माता-पिता की संयुक्त ममता और करुणा की धारा से अभिषिक्त भारवि का मनस्ताप उत्तरोत्तर बढ़ता गया। ऐसे स्नेही और पुत्रवत्सल पिता की क्रूर हत्या के निश्चय करने के कारण उनका अनुताप किसी भी प्रकार शान्त नहीं हो पा रहा था। उन्होंने निर्मल और भावपूर्ण हृदय से अपने माता और पिता का हार्दिक अभिनन्दन करते हुए अपने दूषित और स्मरणमात्र से विकम्पित कर देनेवाले संकल्प को भी उनसे छिपा नहीं रक्खा और साथ ही इस घृणित मानसिक अपराध का कठोरतम प्रायश्चित करने का उपाय भी अपने पिता से पूछा।

भारवि के निर्मल भावों और पाश्चात्ताप के अनुतापों से ही पिता उन्हें निष्पाप मान रहे थे किन्तु भारवि के अत्यधिक आग्रह पर उन्होंने छ महीने तक ससुराल में रहकर श्वशुर की गाएँ चराने का प्रायश्चित बतलाया।

प्रायश्चित के लिए कृतसंकल्प भारवि ने ससुराल पहुँचकर इस व्रत को पूरा किया। वहाँ रहते हुए ही एक बार भारवि की पत्नी को कुछ धन की आवश्यकता हुई। भारवि उस समय गउएँ चराते हुए ही किरातार्जुनीय महाकाव्य लिख रहे थे। उसमें से ही एक पत्र निकालकर एक श्लोक खण्ड पत्नी के हाथ में देते हुए उसे उन्होंने कहीं गिरवी रखकर धन ले लेने को कहा। उस श्लोक में लिखा था "सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।" भारवि की पत्नी इस श्लोक खण्ड को लेकर नगरश्रेष्ठिन् वर्द्धमान के घर पहुँची। वह पन्द्रह वर्षों से परदेश गया हुआ था। वर्द्धमान की पत्नी भारवि की विश्वविश्रुत विद्वत्ता से परिचित थी। उसके हृदय में भारवि के प्रति सम्मान भी था। उसने इस श्लोकार्ध को गिरवी रखकर भारवि की पत्नी को यथेच्छ धन दे दिया तथा उस श्लोक खण्ड को सुन्दर पट्ट पर लिखवाकर सिरहाने की ओर टांग दिया।

जिस समय वर्द्धमान वाणिज्य के लिए विदेश गये थे उस समय उनकी पत्नी गर्भवती थी। उन्हें विदेश गए पन्द्रह वर्ष बीत चुके थे। वर्द्धमान की अनुपस्थिति में उत्पन्न उनका पुत्र लगभग पन्द्रह वर्ष का हो रहा था। सुव्यवस्थित पालन-पोषण और सुख-सुविधा के प्रभाव से वह अब नवयुवक सा प्रतीत होने लगा था। संयोगवश इसी बीच वर्द्धमान परदेश से वापस लौटे, सायंकाल हो रहा था। उन्होंने सोचा मुझे घर से गए पन्द्रह वर्ष से अधिक हो गए अतः गुप्तरीति से चलकर पहले स्त्री के आचरण की जांच कर लेनी चाहिए। उन्होंने सन्ध्या ग्राम के बाहर ही व्यतीत की। लगभग अर्द्धरात्रि के समय चोर की भांति वे अपने घर में प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने देखा कि उनकी पत्नी पलंग पर सो रही है और उसी के बगल में एक सुन्दर युवा पुरुष भी सो रहा है। दोनों के ओढ़ने के लिए चादर भी एक ही है। यह दृश्य देखते ही वर्द्धमान का रक्त खौल उठा। विचार करने का अवसर भी न था। उसने निश्चय किया कि स्त्री और पुरुष दोनों को एक साथ ही समाप्त कर दिया जाए और इस हेतु उसने म्यान से तलवार खींच ली।

इसी बीच वर्द्धमान की दृष्टि पलंग के सिरहाने पर लटकती हुई उस तख्ती पर पड़ी। उसे पढ़ते ही वर्द्धमान का विचार बदल गया। उसने सोचा क्यों न इन्हें जगा लिया जाए। वर्द्धमान ने तलवार की नोंक से पत्नी को जगाया। आँखें खुलते ही पत्नी की दृष्टि वर्द्धमान पर पड़ी। हर्ष से गद्गद् हो उसने समीप पड़े हुए पुत्र को जगाते हुए कहा "बेटा, उठो तुम्हारे पिता जी आए।

तुम उन्हें रोज पूछते थे। देखो आज वे आ ही गए।' पुत्र भी हड़बड़ाकर उठ बैठा और उसने हर्षविह्वल हृदय से पिता के पैरों पर गिरकर साष्टांग प्रणाम किया। वर्द्धमान के हर्ष की सीमा न रही। अपने देवोपम तरुण पुत्र को अङ्क में ले वह प्रेमाश्रु बहाने लगा तथा उस श्लोक के लेखक के प्रति अतिशय आभारी हो रहा था जिसने उसके प्राणोपम पुत्र और पत्नी के प्राणों की रक्षा की थी। वर्द्धमान ने अपने भयंकर निश्चय की चर्चा पत्नी और पुत्र से करते हुए उस श्लोकार्द्ध की प्राप्ति का स्रोत पूछा और बतलाया कि निश्चय ही यह हमारे परिवार के समान ही अनन्त काल तक सैकड़ों परिवारों की अक्षय सुख समृद्धि का कारण होगा।

पत्नी ने श्रेष्ठिन् को पूरा विवरण बतलाया जिसके अनुसार दूसरे दिन प्रभात में ही वर्द्धमान ने भारवि को बुलाकर उनका अभिनन्दन किया तथा शेष श्लोकार्द्ध भी प्रदान करने की प्रार्थना की। भारवि ने एक पत्र पर अङ्कित "वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥" इस श्लोकार्द्ध को प्रदान किया और वर्द्धमान ने उसके बदले अतुल धनराशि अर्पित की।

इससे मिलती-जुलती ही एक दूसरी किंवदन्ती है कि "भारवि बहुत निर्धन थे तथा काव्य-रचना में अधिकतर रहते थे। इनकी पत्नी इस कारण इनसे बहुत असन्तुष्ट थीं और ताने सुनाया करती थीं। एक बार दीनता से दुःखी तथा स्त्री की फटकार से व्याकुल हो राज्याश्रय प्राप्ति के लिए घर से चल पड़े। मार्ग में एक सरोवर के तट पर विश्राम हेतु ठहरे। वहीं विश्राम करते हुए उन्होंने कमल-पत्र पर एक श्लोक अङ्कित किया :

"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥"

दैवयोग से उस प्रदेश का शासक राजा मृगया हेतु उस वन प्रदेश में आया हुआ था। उसने भारवि के इस श्लोक को देखा और अत्यन्त प्रसन्न होकर राजमहल में आने के लिए निमन्त्रित किया। जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों से परिवेष्टित भारवि जब राजप्रासाद के द्वार पर पहुँचे तो द्वारपालों ने इनकी दीनता देखकर भारवि की बात पर विश्वास भी न किया कि राजा ने इन्हें निमन्त्रित किया होगा। निराश भारवि अपने स्थान को लौट आये। राजा ने भारवि के उस श्लोक को स्वर्णाक्षरों में लिखकर अपने कक्ष में टँगवा दिया।

एक वर्ष पश्चात् राजा ने पुनः मृगया का कार्यक्रम बनाया। इस बार उसने प्रथम पड़ाव राजमहल से थोड़ी ही दूर पर डाला। रात्रि के समय घोड़े पर सवार हो वह घूमने निकला और घूमते हुए महल के निकट पहुँच गया। सामने महल देखकर उसने विचार किया कि क्यों न रानी से भी मिल

लूं और वह अन्तःपुर में पहुँच गया। महल के अन्दर उसने रानी को एक अन्य पुरुष के साथ शय्या पर लेटे हुए देखा। उसके क्रोध की सीमा न रही। उसने तलवार ली और एक बार में ही उन दोनों के दो टुकड़े कर देने का निश्चय किया। प्रहार के लिए हाथ उठते ही उसकी दृष्टि लटकती हुई तख्ती पर गई और उसने पढ़ा—

"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।"

राजा का हाथ रुक गया। उसने पत्नी को जगाया, जगते ही उसने आनन्द-विह्वल हो साथ लेटे हुए पुरुष को भी उद्बोधित किया और राजा से बतलाया कि यह आपका पुत्र है जो ज्योतिषियों की व्यवस्था के अनुसार अठारह वर्ष तक आपकी आंखों से तिरोहित रक्खा गया था। आज ही इसकी अवधि पूर्ण हुई थी और मैं इसे बुलवा कर आपसे शीघ्रातिशीघ्र मिलाने की प्रतीक्षा में थी। अपने एकमात्र पुत्र को देख राजा के आनन्द की सीमा न रही। उसने उस श्लोक के रचयिता को खोजकर शीघ्रातिशीघ्र बुलाने का संकल्प किया जिसके कारण माता सहित उसके (पुत्र के) प्राण बच सके थे। उस दिन ही उसने भारवि को बुलाकर सम्मानित किया और अमात्यवर्ग के बीच स्थापित कर इनका यथोचित सम्मान किया।

उपर्युक्त दोनों किंवदन्तियों में नामों के अतिरिक्त घटनाओं में प्रायः साम्य है। इनमें तथ्य कितना है इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं किन्तु इस वास्तविकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारवि की सूक्तियों में असंख्य लोगों के प्राण बचाने का सामर्थ्य है और जीवन संबल होने की पूर्ण योग्यता है। इन किंवदन्तियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भारवि प्रारम्भ में निर्धन थे तथा अपनी प्रतिभा के आधार पर धन, सम्मान और प्रतिष्ठित पद को प्राप्त किया।

आचार्य दण्डी विरचित अवन्तिसुन्दरीकथा तथा अज्ञात विद्वान् द्वारा विरचित अवन्तिसुन्दरीकथासार के अनुसार भारवि का दूसरा नाम दामोदर भी था। वे कौशिक गोत्रीय नारायण स्वामी के पुत्र थे। उनके पूर्वज पश्चिमोत्तर भारत में स्थित आनन्दपुर के निवासी थे। और बाद में वे दक्षिण भारत (नासिक्य) में जाकर बस गये थे। एक बार स्थानीय शासक विष्णुवर्द्धन के साथ शिकार पर गये और वहां उन्हें मांस खाना पड़ा। इस पाप के प्रायश्चित में वे तीर्थ यात्रा के लिये निकले। मार्ग में उनकी भेंट दुर्विनीत से

---

१. अवन्तिसुन्दरीकथा तथा अवन्तिसुन्दरीकथासार के सम्बद्ध उद्धरण परिशिष्ट में देखिए।

हो गई, उसके साथ वे कुछ दिन रहे। एक दिन राजा सिंह विष्णु ने दुर्विनीत के द्वारा भारवि के एक श्लोक को सुना और श्लोक से अत्यधिक प्रभावित होकर भारवि से मिलने को आतुर हो उठे तथा मिलने के उपरान्त उन्हें अपने राज-दरबार में ही स्थायी पद देकर सम्मानित किया।

यहां अवन्तिसुन्दरीकथा में वर्णित विष्णुवर्द्धन पुलकेशिन् द्वितीय (सत्याश्रय) का छोटा भाई था, ऐसा निर्णय शिलालेखों के आधार पर ऐतिहासिकों ने किया है,[१] जिसने आगे चलकर एक स्वतन्त्र राजवंश (पूर्वी चालुक्य) की स्थापना की थी। भारवि इनके ही दरबार में अधिक समय तक रहे।

इसी तरह ऊपर अवन्तिसुन्दरीकथा में वर्णित भारवि का आश्रयदाता सिंह–विष्णु पल्लव वंश का राजा था। इसने कांची में ई० ५७५ से ६०० तक शासन किया था।[२]

इस प्रकार अवन्तिसुन्दरी कथा के उपर्युक्त कथानक से तथा ऐतिहासिक सामग्री से भारवि का छठी शती के उत्तरार्द्ध में अवश्य वर्तमान होना पल्लव-वंशीय राजा सिंहविष्णु के दरबार में अधिक समय तक रहना पूर्णतया निश्चित है। इस विषय में किसी भी प्रकार के तर्क-वितर्क का स्थान नहीं है।

भारवि के कई पुत्र (संभवतः तीन) थे। मनोरथ उनमें मध्यम थे। मनोरथ के ही चतुर्थ (सबसे छोटे) पुत्र वीरदत्त की सन्तान दण्डी थे।

अवन्तिसुन्दरीकथासार के अनुसार भारवि का दूसरा नाम दामोदर था। कुछ विद्वान् दामोदर और भारवि को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। दण्डीकृत अवन्तिसुन्दरीकथा के आधार पर हम किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँच पाते। कारण यह है कि उपर्युक्त पुस्तक में इस प्रकरण का अधिकांश पाठ खंडित हो गया है। इस पुस्तक के वर्तमान मुद्रित संस्करण में पाठ निम्नलिखित है :

---

१. (i) Early History of India, by V. Smith, Page 425
(ii) Epigraphica Indica VIII App. Keilhorn.
(iii) Indian Antiquary XIX 303 and VII 186.

२. (i) Inscriptions in the Trichinopoly Cave, by Venkayya.
(ii) Ancient History of the Deccan p. 68-by G. J, Dubreiul.
(iii) Pallava Antiquities I Chapter II.

"यतः कौशि...............व पुण्यकर्माणि.........
विष्णुवर्द्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात् ।"

हरिदत्त शास्त्री ने इस पद्यांश को एक अन्य हस्तलिखित प्रतिलिपि से उद्धृत किया है जो त्रिवेन्द्रम के संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स मुद्रण विभाग में रखी है। इसमें पाठ निम्नलिखित प्रकार से है :

"यतः कौशिककुमारो (दामोदरो) महाशैवं महापभावं प्रदीप्रभासं भारविं रविमिवेन्दुरनुरुध्य दर्श इव पुण्यकर्मणि विष्णुवर्द्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात् ।"

इस गद्यांश के अनुसार दामोदर और भारवि भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। इसमें भारवि को शैव तथा महाकवि बताया गया है तथा दामोदर को इनसे भिन्न व्यक्ति माना है जिन्हें इनके द्वारा ही राजा विष्णुशर्मा से परिचय प्राप्त हुआ था।

मेरा अपना विचार है कि दामोदर और भारवि अभिन्न व्यक्ति ही थे। दण्डीकृत अवन्तिसुन्दरीकथा में पूर्ण निर्णय न मिलने पर अवन्तिसुन्दरी-कथासार को प्रामाणिक मानना चाहिये क्योंकि अवन्तिसुन्दरीकथासार नामक ग्रन्थ वास्तव में अवन्तिसुन्दरीकथा का एक संक्षिप्त संस्करण ही तो है।

इसका वास्तविक निर्णय विद्वानों द्वारा होना अभी शेष है।

द्वितीय अध्याय

भारवि का कर्तृत्व

"किरातार्जुनीयम्" ही भारवि की एकमात्र कृति के रूप में उपलब्ध होता है। उनकी अन्य रचनाओं के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं है। आवश्यकता भी क्या है? अकेला "किरातार्जुनीयम्" महाकाव्य ही उनकी कीर्तिकौमुदी को साहित्याकाश में फैलाने में पर्याप्त है तो फिर अन्य कम महत्त्व के छोटे-छोटे अनेकों ग्रन्थों के प्रणयन से क्या लाभ? प्रसिद्धि भी ऐसी ही है'''वरमेको गुणी, इत्यादि।

अपने स्वभावानुसार यद्यपि भारवि ने ग्रन्थ के साथ कहीं भी अपना नाम संकलित नहीं किया है तथापि भारवीय काव्य के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वानों की सूक्तियों की सङ्गति किरातार्जुनीयम् के साथ देकर यह निश्चित रूप से मानना पड़ता है कि यह उन्हीं की रचना है। संस्कृत-साहित्य के परिशीलनकर्ताओं ने जिस प्रकार माघकृत एक श्लोक विशेष के आधार पर घण्टामाघ की संज्ञा दी थी[1] उसी प्रकार भारवि को भी उन्होंने छत्रभारवि विरुद से विभूषित किया। इस अभिधान के हेतुभूत श्लोक की किरातार्जुनीयम् में प्राप्ति[2] प्रामाणिक रूप से यह सिद्ध करती है कि यह रचना भारवि की ही होगी।

इसी प्रकार भारवि और माघ की तुलना करनेवाले सहृदय लोगों की उस सूक्ति में[3] जहाँ भारवि की प्रतिष्ठा माघ के उदय तक दिखलाई गई है भारवि और माघ की समानता विदित होती है। माघ के काव्य शिशुपाल वध के आश्रयभूत काव्य की खोज करते-करते हम किरातार्जुनीयम् तक पहुँचते हैं। किरातार्जुनीयम् की शैली आदि का परिष्कृत रूप ही शिशुपालवध में मिलता है

---

१. उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघंटाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्॥
शिशुपालवध ४.२०

२. उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्॥
किरात० ५.३९

३. तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते च पुनर्माघे भारवेर्भा रवेरिव॥

जिस परिष्कार के कारण ही भारवि की "भा" रसिकजनों को भाहीन प्रतीत होती है।

भरतचरितम् लिखित कृष्णकवि के भारवि-प्रशंसापरक श्लोक के आधार पर भी किरातार्जुनीय महाकाव्य को ही भारवि की एकमात्र रचना मानना पड़ता है। भारवि के किरातार्जुनीय को उपजीव्य मानकर निर्मित शिशुपालवध महाकाव्य देखकर ही कृष्णकवि ने सम्भवतः उपरिनिर्दिष्ट बात कही होगी।[1]

काव्यमर्मज्ञों ने संस्कृत-साहित्य के अनेक कवियों की तुलनात्मक आलोचना करते हुए भारवि की कविता में ही अर्थगौरव की विशेषता का साक्षात्कार किया था। समस्त संस्कृत-साहित्य का अनुशीलन करने पर अर्थगौरव की दृष्टि से किरातार्जुनीयम् महाकाव्य ही सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। इस आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि किरातार्जुनीयम् महाकवि भारवि की रचना है।[2]

इनके अतिरिक्त किरातार्जुनीयम् पर प्राप्त होनेवाली टीकाओं के आधार पर भी उसके कर्ता के सम्बन्ध में सूचना मिलती है। विशेष रूप से दुर्विनीत-कृत टीका को इस सम्बन्ध में प्रामाणिक ही मान सकते हैं, क्योंकि वह स्वयं भारवि का समकालीन सिद्ध होता है।[3]

भारवि के इस महाकाव्य का अध्ययन उनके जीवनकाल में ही प्रारम्भ हो चुका था। इसे हम दुर्विनीतकृत टीका के आधार पर ही सोच सकते हैं। किरातार्जुनीयम् के अध्ययन की यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही है, यह तथ्य वर्तमानकाल में उपलब्ध तीन दर्जन से अधिक टीकाओं के आधार पर सिद्ध है जिनके लेखक निम्नलिखित हैं:

१—मल्लिनाथ[4] २—मङ्गल[5]

---

१. प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या॥
कृष्णकविविरचित 'भरतचरितम्'

२. उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दंडिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

३. प्रमाणस्वरूप अवन्तिकथा एवं अवन्तिकथासार के उद्धरण परिशिष्ट में देखिए।

४. सर्वत्र प्राप्य।

५. Triennial Cat. of Sanskrit Manuscripts in Oriental Library, Madras (T.C.) III 3820.

३—देवराज भट्ट[1]
४—रामचन्द्र[2]
५—क्षितिपाल[3]
६—प्रकाशवर्ष[4]
७—कृष्णकवि[5]
८—चित्रभानु[6]
९—एकनाथ
१०—जोनराज[7]
११—हरिकण्ठ[8]
१२—भरतसेन[9]
१३—भगीरथ मिश्र[10]
१४—पेद्दभट्ट[11]
१५—अलाद नरहरि
१६—हरिदास[12]
१७—काशीनाथ
१८—धर्मविजयाग्नि[13]
१९—राजकुण्ड
२०—गदासिंह[14]
२१—दामोदर मिश्र[15]
२२—मनोहर शर्मा[16]
२३—माधव
२४—लोकानन्द
२५—बांकीदास[17]
२६—विजयराम

---

१. Descriptive Catalogues (D. C.) XX 7882; T. C. II.
२. Modern Review Calcutta X.
३. Peterson's report of the operations in search of Sanskrit Mss. in Bombay Circle (I to IV) 22.
४. D. C. XX 7703.
५. D. C. XX 7701.
६. इन्होंने केवल तीन सर्गों पर बहुत विस्तृत टीका लिखी है।
७. 1448 A. D.
८. Catalogue of the Asiatic Society of Bengal 47.
९. Catalogue of Sanskrit Mss. in the India Office, London by Eggeling (I. O.) 343.
१०. I. O. 384.
११. D. C. XX 7873.
१२. D. C. XX 7883.
१३. Notices of Sans. Mss. by Rajendra Lala Mitra.
१४. L. 2140.
१५. L. 2936.
१६. L. 2293.
१७. L. 1614.

२७—शब्दार्थदीपिका तथा प्रसन्न-साहित्यचन्द्रिका (इनके लेखक अज्ञात हैं)
२८—नृसिंह
२९—रविकीर्ति
३०—श्रीरङ्गदेव[1]
३१—श्रीकण्ठ[2]
३२—वल्लभदेव[3]
३३—जीवानन्द विद्यासागर
३४—कनकलाल शर्मा[4]
३५—गंगाधर मिश्र[5]
३६—विद्यामाधव[6]

भारवि का किरातार्जुनीयम् महाकाव्य न केवल सामान्य पाठकों के मानस को आह्लादित करता रहा है अपितु संस्कृत-साहित्य के श्रेष्ठतम आचार्यों के सतत अवगाहन का भी विषय रहा है। प्रायः समस्त मूर्धन्य साहित्याचार्यों ने इनके श्लोकों को विविध अवसरों पर उदाहरण के रूप में उपस्थित करते हुए गर्व का अनुभव किया है। आचार्य वामन[7], आनन्दवर्धन[8], महिमभट्ट[9] मम्मट[10], रुय्यक[11], भोज[12] तथा विश्वनाथ[13] आदि के ग्रन्थों में इनके उदाहरण सुगमतापूर्वक देखे जा सकते हैं। तेरहवीं शती के प्रसिद्ध आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि[14] ने तो पन्द्रह से अधिक बार इनके श्लोकों को ही उद्धृत करते हुए यह सोचने को विवश कर दिया है कि भारवि संस्कृत-साहित्य के मूर्धन्य कवियों में अन्यतम हैं।

---

१. D. C. XX 7985.
२. T. C. IV 9722.
३. T. C. IV 5649.
४. Edited, Calcutta.
५. Edited, Benares.
६. ये भूलोकमल्ला II के राजदरबार में थे। इनका समय 1125 A. D. है।
७. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 'प्रियेण संग्रथ्य' (८.३७) अर्थान्तरन्यास प्रकरण।
८. ध्वन्यालोक 'प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि' (८.१४) तृतीय उद्योत।
९. व्यक्तिविवेक 'द्विषतामुदयः' (२.८) प्रथम विमर्श।
१०. काव्यप्रकाश 'प्रियेण संग्रथ्य' (८.३७) अर्थान्तरन्यास प्रकरण।
११. अलंकारसर्वस्व 'सहसा विदधीत' (२.३०) अर्थान्तरन्यास प्रकरण।
१२. सरस्वतीकंठाभरण 'प्रियेण संग्रथ्य' (८.३७) अर्थान्तरन्यास प्रकरण।
१३. साहित्यदर्पण 'सहसा विदधीत' (२.३०) अर्थान्तरन्यास प्रकरण।
१४. अलंकारमहोदधि, सोलह उदाहरण (१.३३, ३.१४, ३.३४, ३.४०, ५.११, ५.७, ७.३५, ८.६, ८.४५, ९.१०, ९.१५, ९.२६, १३.३१, १३.३९, १३.५९, १८.९) विविध स्थानों पर द्रष्टव्य हैं।

भारवि का यह काव्य न केवल अध्ययन का विषय रहा अपितु सदा ही रसिकजनों का कण्ठहार बना रहा है। यही कारण है कि इनके सम्बन्ध में सूक्तियों की भरमार-सी है। किसी ने भारवि की वाणी को स्वभाव से ही मधुर बताया[1] तो दूसरे ने प्रत्येक अंश में रसपूर्ण तथा अर्थगौरव से सम्पन्न[2], किसी ने भाव और रस के तादात्म्य का स्पष्ट दर्शन किया[3] तो दूसरे ने नारिकेल फल के तुल्य प्रथम साक्षात्कार में कठोर दीखने पर भी अन्तर में रसमय और स्वादु पाया।[4] किसी-किसी आलोचक ने तो इन्हें कालिदास से भी अधिक श्रेष्ठ स्वीकार करना ही उचित समझा[5]। निस्सन्देह भारवि का किरातार्जुनीय संस्कृत-साहित्य की अमूल्य निधि है।

---

१. 'प्रकृतिमधुरा भारविगिरः' सदुक्तिकर्णामृत।

२. (क) प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या॥
कृष्णकविविरचित 'भरतचरितम्'।

(ख) 'His work is compact and meaning-leaden'
कृष्णमाचारियर

३. 'तादात्म्यं भावरसयोर्भारविः स्पष्टमूचिवान्' शारदातनय।

४. नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥

५. 'But nevertheless Bharavi boasts of vigour of thought and of language and lofty eloquence in expression which Kalidasa seldom equals'. By R. C. Dutt.

तृतीय अध्याय

भारवि का व्यक्तित्व

संसार की नश्वरता के सिद्धान्त ने प्राचीन भारतीय मनीषा को इतना आक्रान्त कर रक्खा था कि मानव अपने इस तुच्छ और विनश्वर जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी कहना उचित नहीं समझता था। जीवन के प्रति इस हेय दृष्टि को हम काव्यजगत् में भी प्रतिबिम्बित पाते हैं। कवि अपनी अमरकृति के साथ अपने इस विनाशी शरीर और व्यक्तित्व को जोड़ना उचित नहीं समझता था। यही बात भारवि के काव्य में मिलती है। जिस प्रकार उन्होंने अपने स्थितिकाल के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया उसी प्रकार व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी स्पष्ट निर्देश का अभाव मिलता है। फिर भी उनके "किराता-र्जुनीयम्" महाकाव्य के आधार पर उनके जीवन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

भारवि के एकमात्र महाकाव्य "किरातार्जुनीयम्" में राजनीति की प्रधानता है। इस आधार पर प्रतीत होता है कि वह सम्भवतः किसी राजा के सान्धि-विग्रहिक रहे होंगे। किरातार्जुनीयम् में युधिष्ठिर के चरित्र को तथा उनके सम्मुख उपस्थित किए हुए द्रौपदी और भीम के परामर्श को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारवि का आश्रयदाता राजा बहुत सरल, शान्त प्रकृति एवं युद्ध से विरत रहनेवाला रहा होगा। एक मन्त्री होने के नाते भारवि को राजा की यह नीति स्वीकार न थी। यह भी सम्भव है कि भास के यौगन्धरायण के समान इन्हें ही राज्य का समस्त कार्य देखना पड़ता हो।

भावनाओं के अनुसार भारवि श्रृंगारप्रिय नहीं थे इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है। यही कारण है कि इनके श्रृंगारिक वर्णनों में भी भावनाओं का उतना सुन्दर विकास न हो सका जितना कालिदास के महाकाव्य में। महाकाव्य की रीति निर्वाह के लिए श्रृंगाररस के अवसर पर भी इनको श्रृंगारिक चेष्टाओं का ही अधिक वर्णन करना पड़ा।

"एक सुरसुन्दरी विनीतभाव से अर्जुन के समीप जाकर मन्दहास करने लगी जिससे उसके कपोल परम सुशोभित दृष्टिगोचर हुए। वह कर्णपर्यन्त विस्तृत अर्द्धनिमीलित नेत्र से ध्यानपूर्वक देखने लगी।"[1]

---

१. सविनयमपराभिसृत्य साचि स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मीः।
श्रवणनियमितेन तं निदध्यौ सकलमिवासकलेन लोचनेन ॥

किरातार्जुनीयम् १०।५७

भारवि स्वभाव से अति गम्भीर प्रकृति के प्रतीत होते हैं। कम बोलना सम्भवतः इनके स्वभाव की ही विशेषता थी। यही कारण है कि संस्कृत के समस्त महाकवियों की अपेक्षा भारवि में अर्थगौरव अधिक प्राप्त होता है।[१] किसी भी भाव को थोड़े से शब्दों में प्रभावशाली ढङ्ग से अभिव्यक्त करना और अपने विचारों को प्रकट करके तत्सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त को उसके साथ ही रख देना तथा उसके सम्बन्ध में सोचने का कार्य श्रोता पर ही छोड़ देना भारवि की विशेषता है। भारवि ने अर्थान्तरन्यास के माध्यम से यही कार्य किया है।[1]

सम्भवतः भारवि बहुत स्वाभिमानी थे। अपने आश्रितजनों को दुःखी देखकर भी उनके स्वाभिमान को ठेस पहुँचती थी। इसे हम द्रौपदी के मुख से कहलाए हुए निम्नलिखित वचनों में देख सकते हैं

"अरे, वल्कल वस्त्रों को धारण किए हुए अर्जुन को देखकर भी आपको क्रोध नहीं आ रहा है। यह इन्द्र के समान पराक्रमी वही अर्जुन तो हैं जिन्होंने कभी सुमेरु के उत्तरवर्ती कुरु प्रदेश को जीत कर आपको अपार स्वर्णराशि प्रदान की थी।"[२]

तथा

"बलिहारी है आपके इस धैर्य को। ये सहजात नकुल और सहदेव बनैले हाथियों के सदृश हो गए हैं। वनस्थली पर शयन करने से इनके शरीर में घट्ठे पड़ गए हैं। इनके केशपाश बिखरे हुए हैं। इन्हें देखकर क्या आप धैर्य और नियम का परित्याग करने के लिए तैयार नहीं हो रहे हैं।"[३]

भारवि अपनी स्वाभिमानी प्रकृति के कारण ही शत्रु द्वारा राज्यलक्ष्मी के अपहरण को असह्य समझते हैं, लोभ के कारण नहीं। इसे हम उनके द्वारा कहलाए हुए द्रौपदी के निम्नलिखित वचनों में देख सकते हैं।

"आपके अतिरिक्त इस वसुधातल में कौन ऐसा राजा है जो अनुकूल सहायक सामग्रियों के रहते हुए तथा जिसके क्षत्रियत्व का गर्व है, सन्धि आदि

---

१. भारवेरर्थगौरवम्।

२. विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुना हरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः॥
किरातार्जुनीयम् १।३५

३. वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्॥
किरातार्जुनीयम् १।३६

तथा सौन्दर्यादि राजोचित गुणों से युक्त तथा वंशपरम्परा से रक्षित राज्यश्री को अपनी मनोरमा प्रियतमा की भाँति (देखते हुए) अपहृत होने देगा।"[1]

अपनी स्वाभिमानप्रियता के कारण ही उन्हें याचनावृत्ति स्वीकार नहीं थी। याचना मनस्वी व्यक्तियों के लिए कदापि उचित नहीं। वह याचना के समय उत्पन्न होनेवाली दीनता की अपेक्षा बलात् अपहरण को अधिक श्रेयस्कर मानते हैं।[2]

उन्हें यश का भी बहुत मोह है। इसीलिए किरातार्जुनीयम् के नायक अर्जुन ने स्पष्ट शब्दों में कीर्ति को ही रक्षणीय मानते हुए किरात को उत्तर दिया है।

"तुम्हारे स्वामी मिथ्या अभियोग लगाकर एक अलभ्य एवं विपरीत फल देनेवाली वस्तु को बलपूर्वक प्राप्त करना चाहते हैं।"[3]

तथा

"यदि इच्छा है तो एक यही है कि शत्रुओं के द्वारा किए गए कपट व्यवहार से जो हम लोगों को कलंक का टीका लगा है वह विधवापन से सन्तप्त शत्रु रमणियों के लोचनजल से धुल जाए।"[4]

तथा

"शत्रुओं के द्वारा नष्ट यश का जो पुरुष जब तक अपने प्राणों के द्वारा

---

१. गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम्॥
किरातार्जुनीयम् १।३१

२. (क) यदात्थ कामं भवता स याच्यतामिति क्षमं नैतदनल्पचेतसाम्।
कथं प्रसह्याहरणैषिणां प्रियाः परावनत्या मलिनीकृताः श्रियः॥
किरातार्जुनीयम् १४।१८

(ख) असिः शरा वर्म धनुश्च नोच्चकैर्विविच्य किं प्रार्थितमीश्वरेण ते।
अथास्ति शक्तिः कृतमेव याच्ञया न दूषितः शक्तिमतां स्वयंग्रहः॥
किरातार्जुनीयम् १४।२०

३. अभूतमासज्य विरुद्धमीहितं बलादलभ्यं तव लिप्सते नृपः।
विजानतोऽपि ह्यनयस्य रौद्रतां भवत्यपाये परिमोहनी मतिः॥
किरातार्जुनीयम् १४।१९

४. प्रमार्ष्टुमयशःपङ्कमिच्छेयं छद्मना कृतम्।
वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः॥
किरातार्जुनीयम् ११।६७

उद्धार नहीं करता है तब तक वह पुरुष अजन्मा है अर्थात् उसने संसार में जन्म नहीं लिया है, मृतप्राय है, तृण से भी गया बीता है।"[1]

अर्जुन के द्वारा कहलाई हुई भारवि की इन सभी उक्तियों में यशोरक्षण के प्रति महान् आकर्षण है।

स्वाभिमानी के साथ-साथ वे अत्यन्त पराक्रमी भी थे। उन्होंने सदा ही पराक्रम और पुरुषार्थ की सराहना की है :

"उन्नति के पथ में बाधक अनुत्साह का आलम्बन करके पड़े रहना ठीक नहीं। क्योंकि समृद्धियाँ पराक्रमी (उत्साही) व्यक्ति का आश्रय लेती हैं और अनुत्साही का परित्याग कर दिया करती हैं।"[2]

तथा

"हे प्रजानाथ ! यदि शत्रु पुनः राज्य लौटा दे और वह आपके करतल में हो जाए तो आपके अनुजों (छोटे भाइयों) की पराक्रमशाली भुजाएँ फिर कब और कहाँ सफल होंगी।"[3]

और भी

"मृग वन में निवास करते हैं इसलिए वे किसके ग्राह्य हैं ? जो उन्हें मारता है वे उसी के हैं। किरातपति का कर्तव्य है कि वे इसके विषय में अपनापन छोड़ दें। यह मेरा है इस प्रकार की मानिता तथा सम्पत्ति दोनों साथ-साथ नहीं होतीं।"[4]

भारवि स्वभाव से अत्यन्त निर्भीक थे। वे किसी से भी डरना तो जानते ही नहीं थे। यही कारण है कि अर्जुन किरात को निर्भय होकर युद्ध के लिए ललकारते हैं।

---

१. अजन्मा पुरुषस्तावद्गतासुस्तृणमेव वा।
यावन्नेषुभिरादत्ते विलुप्तमरिभिर्यशः॥
किरातार्जुनीयम् ११।७०

२. तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम्।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः॥
किरातार्जुनीयम् २।१५

३. द्विषता विहितं त्वयाथवा यदि लब्ध्वा पुनरात्मनः पदम्।
जननाथ ! तवानुजन्मनां कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः॥
किरातार्जुनीयम् २।१७

४. वनाश्रयाः कस्य मृगाः परिग्रहाः शृणाति यस्तान्प्रसभेन तस्य ते।
प्रहीयतामत्र नृपेण मानिता न मानिता चास्ति भवन्ति च श्रियः॥
किरातार्जुनीयम् १४।१३

"इसी कारण मैंने पशुओं के हत्यारे तुम्हारे स्वामी किरात की कठोर एवं आक्षेप भरी बातें सहन की हैं। और इसके बाद भी वह बाण के लिए आना चाहेंगे तो उनकी वही गति होगी जो गति दृष्टिविष नामक भयंकर सर्पमणि ग्रहण करने वालों की हुआ करती है।"[1]

निर्भय, पराक्रमी और स्वाभिमानी होने के कारण भारवि किसी प्रतिपक्षी द्वारा अपना उल्लंघन सह्य नहीं मानते हैं। इसीलिए उनके अर्जुन किसी को मार्ग न देना ही अपना व्रत मानते हैं।

"किसी को भी मार्ग न देना, इस व्रत के पालन करने की आज्ञा मुझे महर्षि व्यास ने दी थी।"[2]

सामान्यतः देखा जाता है कि अभिमानी और पराक्रमी व्यक्ति कूटनीति का आश्रय नहीं लेते हैं। फलतः उन्हें बहुधा पराजय का ही वरण करना पड़ता है किन्तु महाकवि भारवि उपर्युक्त गुणों के साथ ही नीतिकुशल भी रहे हैं। सम्भवतः इसी कारण जीवन में उनके हाथ में सदैव सफलता ही लगी है। वे स्पष्ट शब्दों में सरलता को हेय तथा नीति को ग्राह्य बताते हैं।

"वही बुद्धिहीन जन पराजित होते हैं जो अपने मायावी शत्रुओं के साथ मायावी नहीं बन जाते हैं। दुर्जन सरल चित्त, निष्कपट लोगों को उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं जिस प्रकार तीक्ष्ण बाण वस्त्रहीन अंगों में पैठकर उन्हें नष्ट कर डालते हैं।"[3]

अपनी स्वाभिमानी प्रकृति के कारण ही भारवि नीच लोगों से मित्रता करना भी उचित नहीं मानते हैं। इसे हम अर्जुन द्वारा किरात के प्रति कहे गये वचनों में देख सकते हैं।

"तुम अपने स्वामी को मेरे लिए योग्य मित्र कैसे बतला रहे हो? क्योंकि जो तपस्वी जनों से अपने आप ही ईर्ष्या करता है वह सन्मित्र नहीं हो सकता

---

१. मया मृगान्हन्तुरनेन हेतुना विरुद्धमाक्षेपवचस्तितिक्षितम्।
शरार्थमेष्यत्यथ लप्स्यते गतिं शिरोमणिं दृष्टिविषाज्जिघृक्षतः॥
किरातार्जुनीयम् १४।२५

२. न वर्त्म कस्मैचिदपि प्रदीयतामिति व्रतं मे विहितं महर्षिणा।
जिघांसुरस्मान्निहतो मया मृगो व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया॥
किरातार्जुनीयम् १४।१४

३. व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥
किरातार्जुनीयम् १।३०

है क्योंकि गुण एकत्र करने के विरोधी, असज्जनों का सज्जनों के प्रति सहज वैर हुआ करता है।"[1]

तथा

"वर्ण एवं आश्रम की मर्यादा की रक्षा में तत्पर हम कहां और जाति-विहीन पशुओं को मारकर जीविका चलाने वाले हिंसक तुम्हारे स्वामी कहाँ ? उक्त रीति से जाति एवं वृत्ति से नीच व्यक्ति के साथ हमारी मैत्री उचित नहीं है। कहीं हाथी और गीदड़ों में भी मित्रता होती है ?"[2]

तथा

"नीच लोगों के साथ वैर विरोध करने से सज्जनों की कीर्ति नष्ट होती है और मित्रता करने से उनके गुण दूषित होते हैं। इस प्रकार दोनों ही ओर से मर्यादा की हानि समझ कर विचारवान् लोग नीच व्यक्ति की अवज्ञा और उपेक्षा करते रहते हैं।"[3]

नीच जनों के साथ मित्रता को उन्होंने इसलिए भी हेय माना है क्योंकि उसका परिणाम सदा हानिकर ही होता है। इसीलिए भारवि के अर्जुन ने इन्द्र को उत्तर देते हुए अपने दुःखों का मूल कारण इस दुर्जन मैत्री को ही बताया है। वे कहते हैं कि

"धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि के साथ हमारी मित्रता ही हम में शत्रुता की जननी है। क्योंकि दुर्जनों की मित्रता गिरनेवाले नदी तट की छाया की भाँति अनर्थकारिणी होती है।"[4]

---

१. सखा स युक्तः कथितः कथं त्वया यदृच्छयासूयति यस्तपस्यते ।
गुणार्जनोच्छ्रायविरुद्धबुद्धयः प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः ।।
किरातार्जुनीयम् १४।२१

२. वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिताः क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिदः ।
सहापकृष्टैर्महतां न संगतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः ।।
किरातार्जुनीयम् १४।२२

३. यदा विगृह्णाति हतं तदा यशः करोति मैत्रीमथ दूषिता गुणाः ।
स्थितिं समीक्ष्योभयथा परीक्षकः करोत्यवज्ञोपहतं पृथग्जनम् ।।
किरातार्जुनीयम् १४।२४

४. धार्तराष्ट्रैः सह प्रीतिर्वैरमस्मास्वसूयत ।
असन्मैत्री हि दोषाय कूलच्छायेव सेविता ।।
किरातार्जुनीयम् ११।५५

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर भारवि की स्वाभिमानी प्रकृति का परिचय प्राप्त होता है। साथ ही वह दीन दुखियों के प्रति सदैव क्षमाशील भी प्रतीत होते हैं। भारवि के इस गुण को अर्जुन के वाक्यों में स्पष्टतया देखा जा सकता है—

"अज्ञानी एवं मूर्खों से अपमानित होकर सज्जन अधीर नहीं होते हैं, उनका तिरस्कार तो तब होता है जब समान पराक्रम, वंश और पौरुष वालों से उनका अतिक्रमण हो जाता है।"[1]

भारवि स्वभाव से बहुत उदार थे। यही कारण है कि वह अवसर आने पर अपना सर्वस्व ही नहीं अपने प्राणों को भी न्यौछावर कर देना अनुचित नहीं समझते हैं।[2]

अपनी उदारता के कारण वह अपने मित्रों को सामान्य सम्पत्ति ही नहीं समस्त राजकीय ऐश्वर्य भी देने को प्रस्तुत रहा करते थे। यह उनके जीवन के लिए अत्यन्त साधारण बात थी। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने इस सिद्धान्त को अर्जुन के द्वारा अभिव्यक्त न कराकर किरात (दूत) के मुख से कहलाया है।[3]

मित्रों के प्रति इतने अधिक उदार होने पर भी वह शत्रुओं तथा शक्तिशाली जनों के प्रति उदारता का व्यवहार करना उचित नहीं मानते हैं।

एक शासक की दृष्टि से भारवि ने जीवन में न्यायशीलता को अपनाना सदैव उचित समझा था। इसलिए उन्होंने सिद्धान्त के रूप में यह स्वीकार किया है कि "तुम न्याय की हत्या मत करो क्योंकि सज्जन लोग तो न्याय का ही आश्रय लेते हैं।"[5]

भारवि स्वभाव से त्यागी तथा लक्ष्मी के प्रति अनासक्त रहने वाले हैं।

---

१. परोऽवजानाति यदज्ञताजडस्तदुन्नतानां न विहन्ति धीरताम्।
समानवीर्यान्वयपौरुषेषु यः करोत्यतिक्रान्तिमसौ तिरस्क्रिया॥
किरातार्जुनीयम् १४।२३

२. अर्थितस्तु न महान्समीहते जीवितं किमु धनं धनायितुम्॥
किरातार्जुनीयम् १३।५६

३. त्वद्विधं सुहृदमेत्य सोऽर्थिनं किं न यच्छति विजित्य मेदिनीम्।
किरातार्जुनीयम् १३।५९

४. अनायुधे सत्त्वजिघांसिते मुनौ कृपेति वृत्तिर्महतामकृत्रिमा।
शरासनं बिभ्रति सज्यसायकं कृतानुकम्पः स कथं प्रतीयते॥
किरातार्जुनीयम् १४।१६

५. भवान्मा स्म वधीन्न्याय्यं न्यायाधारा हि साधवः॥
किरातार्जुनीयम् ११।३०

उनकी मान्यता है कि लक्ष्मी कभी किसी से प्रेम नहीं करती। उन्होंने लक्ष्मी के प्रति आसक्त रहने वाले को मूर्ख की संज्ञा प्रदान की है।[१] उनका कहना है कि लक्ष्मी दुश्शील पुरुषों के विषय में चंचल होती है। अतः उसे यदि चंचला कहा जाय तो इसमें निन्दा की कोई बात नहीं है। यह तो उसकी स्तुति ही है। किन्तु यह नीच स्वभाववाली लक्ष्मी सदाचारियों को भी छोड़ देती है। यही उसकी निन्दा का विषय है।[२]

"किरातार्जुनीयम्" महाकाव्य के अध्ययन के आधार पर हमारा अनुमान है कि भारवि अत्यन्त चरित्रवान् और जितेन्द्रिय व्यक्ति थे। उन्होंने अर्थ और काम दोनों को तत्वज्ञान का विरोधी स्वीकार किया है,[३] उनका ऐसा विश्वास है कि जो मनुष्य इन्द्रियों का दास है वह स्वार्थसाधन में पराधीन, नीच से भी नीच कर्म करने वाला, निर्लज्ज तथा बैल की तरह अन्य लोगों की आज्ञा का पालन करने वाला (नौकर) होता है।[४] विषय सुखों को उन्होंने सदा ही अनित्य समझा था और इस कारण उन्हें हेय भी।[५] साथ ही इन्हें वे विश्वास-घातक मानते रहे हैं क्योंकि उनका विचार था कि प्रिय होने पर भी ये दुःखदायी होते हैं। साथ ही इन्द्रियों के शिथिल होने पर ये स्वयं ही छोड़कर चले जाते हैं किन्तु यदि मनुष्य इन्हें छोड़ना चाहे तो ये कभी नहीं छोड़ते हैं।[६]

---

१. नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते ।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ॥
किरातार्जुनीयम् ११।२४

२. कोऽपवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चंचलाः ।
साधुवृत्तानपि क्षुद्रा विक्षिपन्त्येव संपदः ॥
किरातार्जुनीयम् ११।२५

३. मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः ।
तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ॥ किराता० ११।२०

४. परवानर्थसंसिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रपः ।
अविधेयेन्द्रियः पुंसां गौरिवैति विधेयताम् ॥ किराता० ११।३३

५. श्वस्त्वया सुखसंवित्तिः स्मरणीयाधुनातनी ।
इति स्वप्नोपमान् मत्वा कामान् मा गास्तदंगताम् ॥
किरातार्जुनीयम् ११।३४

६. श्रद्धेया विप्रलब्धारः प्रिया विप्रियकारिणः ।
सुदुस्त्यजास्त्यजन्तोऽपि कामाः कष्टा हि शत्रवः ॥
किरातार्जुनीयम् ११।३५

भारवि जाति धर्म के विशेष पक्षपाती थे। गीता का "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" सिद्धान्त उनको अति प्रिय था। और इसी कारण वे ब्राह्मण धर्म का पूर्णतः पालन करना ही श्रेयस्कर मानते हैं। उन्होंने "किरातार्जुनीयम्" के प्रधान नायक अर्जुन के द्वारा इन्द्र के मोक्षोपदेश का उत्तर जाति धर्म के आधार पर ही दिया है।[1]

उपर्युक्त विविध विशेषताओं के साथ ही भारवि में पांडित्य प्रदर्शन की भी प्रवृत्ति थी। आज हम उसे भले ही दोष कहकर टाल दें, किन्तु भारवि के समय इस प्रवृत्ति को दोष नहीं समझा जाता होगा। पाण्डित्य का प्रदर्शन उस युग में सम्भवतः आवश्यक ही था क्योंकि उस समय विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित करना अपनी प्रतिष्ठा तथा धनैश्वर्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक-सा हो गया था। यही प्रवृत्ति विकसित रूप में चम्पू काव्य की शैली में गुण के रूप में स्वीकृत हुई है। साथ ही श्री हर्ष ने भी अपने महाकाव्य "नैषधीयचरितम्" में स्वयं अपने मुख से भी कुछ ग्रन्थियाँ डालने की चर्चा करके उसे गुण के रूप में माना है।[2]

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने काव्य में रसोद्रेक की दृष्टि से जिन अलङ्कारों को बाधक माना है वे प्रयत्नसाध्य और प्रयत्नगम्य होने के कारण ही रसानुभूति में बाधक हैं। अतएव काव्य में उनका प्रयोग उचित नहीं है। हाँ, इन अलंकारों से पांडित्य प्रदर्शन अवश्य होता है। भारवि ने भी इनका अनेक बार प्रयोग किया है। पञ्चदश सर्ग में प्रयुक्त एकव्यंजन, द्व्यक्षर, निरौष्ठ्य, प्रतिलोम और प्रतिलोमानुपाद आदि शब्दालंकार[3] तो मानो भारवि की स्वयं की कल्पना ही हैं। भारवि के पूर्ववर्ती किसी काव्य में या साहित्यशास्त्र में भी इनका उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भवतः इनका प्रयोग भारवि ने इस हेतु किया होगा कि जहाँ इनकी रचना कवि के प्रगाढ़ पाण्डित्य को सिद्ध करती है वहीं इनमें से कुछ (एकाक्षर आदि) का अर्थ समझने के लिए भी विशेष व्युत्पत्ति की अपेक्षा है।

---

१. क्षत्त्रियस्तनयः पाण्डोरहं पार्थो धनंजयः।
किरातार्जुनीयम् ११।४५

२. ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतहठग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासञ्जनं सज्जनम्॥
नैषधीयचरितम् २२।१५२

३. एकाक्षरादि के उदाहरण परिशिष्ट में देखिए।

उपर्युक्त शब्दालङ्कारों के साथ ही भारवि के महाकाव्य में प्राप्त विविध बन्धों[1] (सर्वतोभद्र, गोमूत्रिकाबन्ध तथा अर्धभ्रमक) को भी पांडित्य की प्रवृत्ति का सूचक माना जा सकता है। यद्यपि इन बन्धों की चर्चा अग्निपुराण में प्राप्त है तथापि इनका सर्वप्रथम प्रयोग हमें भारवि के "किरातार्जुनीयम्" महाकाव्य में ही मिलता है।

महाकवि भारवि में पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का सर्वप्रमुख प्रमाण है छन्दों का प्रयोग। महाकाव्य की परम्परा के अनुसार प्रत्येक सर्ग में एकाधिक छन्द का प्रयोग होता है। सर्गान्त के एक अथवा एकाधिक श्लोकों में छन्द में परिवर्तन करना आवश्यक माना गया है। किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के पाँच सर्गों (१, ७, ८, १०, १२) में सम्पूर्ण सर्ग में एक छन्द का प्रयोग कर अन्तिम श्लोक को (अष्टम में अन्तिम तीन श्लोकों को) भिन्न छन्द में निबद्ध किया गया है। सात सर्गों (३, ४, ६, ९, ११, १३, १४) में हमें तीन छन्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है। किन्तु पञ्चम सर्ग में जहाँ भारवि ने तेरह छन्दों का प्रयोग किया है वहाँ निस्सन्देह उनकी छन्द सम्बन्धी पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही कार्य करती है। यह प्रवृत्ति अन्तिम सर्ग (अठारहवें सर्ग) में विशेष रूप से विकसित दिखलाई पड़ती है, क्योंकि इस सर्ग में अन्तिम अवसर था जब वे अपनी व्युत्पत्ति प्रदर्शित कर सकते। फलतः अड़तालिस श्लोकोंवाले इस छोटे से सर्ग में सत्रह छन्दों का प्रयोग कर डाला। अन्यथा छन्दों की इस विविधता का अन्य प्रयोजन हो ही क्या सकता है।

इस प्रकार भारवि के महाकाव्य "किरातार्जुनीयम्" के आधार पर हमारा अनुमान है कि वे किसी राजा के मन्त्री, रसिकता से विलग, गम्भीर स्वाभिमानी, कूटनीतिज्ञ, त्यागी, दानशील, उदार किन्तु शत्रु के प्रति सावधान, साथ ही उद्भट विद्वान तथा पाण्डित्य के अहम्भाव से पूर्ण व्यक्ति थे।

---

१. विविध बन्धों के चित्र परिशिष्ट में देखिए.

चतुर्थ अध्याय

भारवि के काव्य से परिलक्षित तत्कालीन दशा और परिस्थितियाँ

कवि के चहुँ ओर विद्यमान तत्कालीन दशा व परिस्थितियों का उसकी कृति में प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक ही नहीं अवश्यम्भावी भी है। वह ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से तत्कालीन सीमाओं या मर्यादाओं में बँधकर ही अपने काव्य का प्रणयन करता है। भारवि का काल भारतीय इतिहास के उस अंश का संकेत करता है, जब कई छोटे-मोटे राजा अपने आस-पास के दूसरे राजाओं को सामादि उपायों से करद बनाने में ही नहीं, उसके राज्य का अपहरण करने की ताक में लगे हुए थे, भारवि से लेकर श्रीहर्ष तक के भारत की यही दशा रही है। माघ तथा विशाखदत्त की कृतियां भी इसका संकेत दे सकती हैं। भारवि तथा माघ के इतिवृत्त पौराणिक होते हुए भी यदि उस काल को राजनीतिक दशा के प्रतिबिम्ब माने जायं, तो कोई दूरारूढ़ कल्पना न होगी। कालिदास की व्यावहारिक उदार राजनीति गुप्तों के ऐश्वर्य के साथ समाप्त हो गई थी। यहाँ शास्त्रों में कौटिल्य का अर्थशास्त्र, शुक्रनीति तथा कामन्दकीय नीतिसार राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष का विधान कर रहे थे, वहाँ राजनीति व्यवहार में उन्हीं का उलथा लेकर आ रही थी। शत्रुपक्ष के भेदन के लिये चार एवं "स्पशों" की महत्ता मानी जाने लगी थी, तथा रुक कर विपक्ष की भावी अवनति की प्रतीक्षा की जाती थी। माघ ने स्पशों के बिना राजनीति की निर्मूलता मानी है, और भारवि तथा माघ दोनों ने राजनीति को ठंडे दिमाग से सोचने का विषय माना है, जल्दबाजी का नहीं। भारवि के किरातार्जुनीय की राजनीतिपटुता उस काल में राजनीति के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान का संकेत कर उस काल की राजनीतिक दशा का चित्र उपस्थित करने में समर्थ है।

किरातार्जुनीय से भारवि के समय की लोकसामान्य की दशा का संकेत मिलना असम्भव है। यही नहीं, भारवि का समाज माघ तथा श्रीहर्ष की भाँति बहुत संकीर्ण समाज है, वे राजप्रासाद के परकोटे तथा पण्डित मण्डली से बाहर झांकते नजर नहीं आते। कालिदास राजप्रासाद में रहते हुए भी अपनी पैनी निगाह से समस्त नागरिक जीवन का अध्ययन करते हैं, चाहे उनकी दृष्टि भी

नगर के गोपुर से बाहरी जन-समाज को उस सहानुभूति से न देखती हो, जिस सहानुभूति से उन्होंने प्रकृति को देखा है। भारवि का समाज मन्त्रणागृह में मन्त्रणा करते नीतिविशारदों, युद्धस्थल के काल्पनिक वर्णनों में वाग्युद्ध और शस्त्रयुद्ध करते योद्धाओं, चित्रकाव्य तथा अर्थगाम्भीर्य से गद्गदायमान होते पण्डितों, श्रोताओं तथा सामन्तों के विलासगृहों तक ही सीमित है। उनका प्रकृतिवर्णन (चतुर्थ सर्ग को छोड़कर) ठीक वैसा ही है, जैसा कुर्सी पर बैठकर किसी व्यावहारिक विषय पर की गयी गवेषणा का अन्तःज्ञानशून्य फल। सारांश यह कि भारवि का समाज, उनके काव्य के चरित्रों की दुनिया का दायरा, बड़ा तंग है, और ठीक इसी तरह भारवि की भावनावृत्ति का भी, जो कला तथा अर्थगाम्भीर्य के परकोटे में बन्द रहकर "असूर्यंपश्या राजदारा" के समान रह गयी है, जिसे देखने की ललक हर एक को होती है, किन्तु जो उपभोग की वस्तु नहीं रह जाती।

पंचम अध्याय

भारवि का पाण्डित्य, उन पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव तथा परवर्ती कवियों को उनकी देन

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अति प्राचीन काल से साथ-साथ रहता आया है। यह आवश्यक भी है क्योंकि पृथक् रहकर उसकी जीवन-यात्रा कठिन ही नहीं असम्भव भी है। समाज में रहकर वह एक दूसरे के सम्पर्क में आता है। परस्पर एक दूसरे के विचारों से प्रभावित होता है। मानस-पटल पर अंकित यह प्रभाव उसकी कृति में भी झलकता है।

भारवि के काव्य में भी इस प्रभाव को देखा जा सकता है। उसमें जहाँ एक ओर अपने से पूर्ववर्ती राजनीतिज्ञों, दार्शनिकों और कवियों की रचनाओं का प्रभाव परिलक्षित है वहाँ परवर्ती साहित्य में उनकी छाप देखी जा सकती है।

भारवि पर पड़ने वाले पूर्ववर्ती प्रभाव को देखकर तथा अन्य कवियों पर पड़ने वाले भारवि के प्रभाव को देखकर यह न सोचना चाहिए कि इन्होंने दूसरों का अनुकरण किया है या चोरी की है, अतएव उनके काव्य निन्दनीय तथा हेय हैं। कारण यह है कि प्रत्येक मानव अपनी चेतना के विकास के साथ ही साथ अपने पार्श्ववर्ती विश्व का अवलोकन करता है और उसके आधार पर करता है ज्ञान का अर्जन। दर्शन बिना ज्ञानार्जन सम्भव ही नहीं है, अतएव प्रत्येक मानव के ज्ञान में या उसकी कृति में दूसरों की छाया अवश्य ही देखी जा सकती है। भारवि का किरातार्जुनीयम् महाकाव्य महाभारत का उपजीवी महाकाव्य है। अतएव उसका सर्वाधिक प्रभाव इस पर होना ही चाहिये।

महाभारत के इस महान् प्रभाव को देखते हुए प्रस्तुत प्रकरण में उसकी चर्चा न करके "किरातार्जुनीय के उपजीव्य काव्य के रूप में महाभारत" नामक एक पृथक् शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन करना उचित होगा।

एक राजनीतिक काव्य होने के नाते किरातार्जुनीयम् में राजनीति का विस्तृत वर्णन मिलता है। भारवि अपने इन राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में प्रधान-रूप से कौटिल्य और विष्णुशर्मा से प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं।

भारवि के महाकाव्य किरातार्जुनीयम् के प्रथम श्लोक को देखते ही हमें यह मान लेना पड़ता है कि उनका राजनीति सम्बन्धी ज्ञान अगाध था तथा उन्होंने

राजनीति के विभिन्न शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था। साथ ही एतत्सम्बन्धी पर्याप्त अनुभव भी उनके समीप था। उन्होंने प्रथम श्लोक में लिखा है कि :

"कौरवों की राजलक्ष्मी के पालन में समर्थ दुर्योधन के प्रजा के प्रति किये गये व्यवहार को भली भाँति जानने के लिए नियुक्त किया गया ब्रह्मचारी वेशधारी वनेचर युधिष्ठिर के पास द्वैतवन में आया।"

इस स्थल पर भारवि ने दूत के लिये वर्णिलिंगी शब्द का प्रयोग किया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसे कापटिक कहा गया है। कौटिल्य के अनुसार गुप्तचर ९ प्रकार के होते हैं—(१) कापटिक, (२) उदास्थित (उदासीन संन्यासी), (३) गृहपति (गृहस्थ), (४) वैदेहक (वणिक्), (५) तापस (तपस्वी), (६) सत्री (विविध शास्त्रों को पढ़ने वाले के रूप में विख्यात गुप्तचर), (७) तीक्ष्ण (शरीर को कुछ न समझने वाले साहसी पुरुष), (८) रसद (विष देनेवाले लोग), (९) भिक्षुकी (संन्यासिनी)।[1]

भारवि का वर्णिलिंगी कौटिल्य के अनुसार कापटिक कहा जा सकता है। कौटिल्य ने कापटिक की परिभाषा करते हुए लिखा है कि औरों के दोष जानने में निपुण, ढीठ एवं छात्र वेषधारी गुप्तचर कापटिक कहलाता है।[2] किरात के उक्त प्रथम श्लोक की रचना करते हुए भारवि निःसन्देह कौटिल्य से प्रभावित हैं, यह मानना होगा।

किरातार्जुनीय के उक्त प्रथम श्लोक में ही हमें विष्णुशर्मा के पंचतंत्र का भी पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है कि :

"जो राजा अपने पक्ष में तथा मुख्यतया शत्रु पक्ष में विद्यमान तीर्थों को गुप्तचरों से जान लेता है वह कभी दुर्गति का अनुभव नहीं करता।" उन्होंने आगे लिखा है कि :

"भगवान् नारद ने युधिष्ठिर से कहा कि शत्रु पक्ष में अट्ठारह तथा निज पक्ष में पन्द्रह तीर्थ हैं, उन्हें गुप्तचरों से जानना चाहिए। गुप्तचरों द्वारा तीर्थों के जान लेने पर दोनों पक्ष (निज पक्ष तथा शत्रु पक्ष) वशीभूत हो जाते हैं। यहाँ तीर्थ का तात्पर्य है 'अयुक्त कर्म करनेवाला'।"[3]

---

१. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, पृष्ठ २७।

२. परमर्मज्ञः प्रगल्भः छात्रः कापटिकः।

३. "यस्तीर्थानि निजे पक्षे परपक्षे विशेषतः।
गुप्तैश्चारैर्नृपो वेत्ति न स दुर्गतिमाप्नुयात् ॥"

मेघवर्ण आह "तात, कानि तीर्थान्युच्यन्ते कति संख्यानि च कीदृशा गुप्तचराः, तत्सर्वं निवेद्यताम् इति। स आह अत्र विषये भगवता नारदेन

भारवि के युधिष्ठिर अपने गुप्तचर द्वारा शत्रु पक्ष के तीर्थों को जानने का प्रयत्न करते हैं तथा उन्हें जानकर महाकाव्य के अग्रिम भाग में उनके सम्बन्ध में मन्त्रणा करते हैं तथा सफलता के लिए आवश्यक पग उठाते हैं, जो निःसन्देह पंचतन्त्र के प्रभाव का परिणाम है।

इसी सर्ग (प्रथम सर्ग) में नवम श्लोक में भारवि का वर्णिलिंगी दूत दुर्योधन के व्यवहार का परिचय देते हुए युधिष्ठिर से कहता है कि :

"वह (दुर्योधन) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं अहङ्कार रूप प्राणियों के छहों शत्रुओं को जीतकर, अत्यन्त दुर्गम मनु आदि नीतिज्ञों द्वारा बनाई हुई शासन-पद्धति पर कार्य करने की लालसा से आलस्य को दूर भगाकर रात दिन के समय को प्रत्येक काम के लिए अलग-अलग करके, नैतिक शक्ति द्वारा अपने पुरुषार्थ को सबल बना रहा है।"[1]

दुर्योधन का उक्त कार्य कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य को सुदृढ़ बनाने का सर्वोत्तम उपाय है। चाणक्य सूत्र के प्रारम्भ में ही लिखा है कि :

"राज्य का मूल है इन्द्रिय-विजय तथा इन्द्रिय-विजय का मूल विनय (नम्रता तथा सदाचार) है। विनय की प्राप्ति वृद्धजनों की सेवा से होती है एवं वृद्ध-सेवा की भावना जाग्रत होती है विज्ञान से।"[2]

इन्हीं सूत्रों की व्याख्या करते हुए कौटिल्य ने आगे लिखा है कि :

"विद्या से सुसम्पन्न विनयी, प्रजा को सुशिक्षित बनावे और सबके कल्याण में संलग्न राजा एकच्छत्र पृथ्वी का भोग करने में समर्थ होता है। इन्द्रियों का जीतना ही विद्या और विनय का हेतु है। काम, क्रोध, लोभ, मान,

---

युधिष्ठिरः प्रोक्तः। यच्छत्रुपक्षेऽष्टादश तीर्थानि, स्वपक्षे पंचदश। त्रिभिस्त्रिभिर्गुप्तचरैस्तानि ज्ञेयानि। तैः ज्ञातैः स्वपक्षः परपक्षश्च वश्यो भवति। उक्तं च नारदेन युधिष्ठिरं प्रति—

कच्चिदष्टादशान्येष स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः॥
तीर्थशब्देनायुक्तकर्माभिधीयते।"

पंचतन्त्र, काकोलूकीयम्, पृ० १४२।

१. कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
विभज्य नक्तंदिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम्॥

किरातार्जुनीयम् १।९

२. राज्यमूलमिन्द्रियजयः। इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः। विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा। वृद्धसेवाया विज्ञानम्। चाणक्यसूत्र ४,५,६,७।

मद (गर्व) और हर्ष का त्याग करने से ही इन्द्रियजय सुलभ होता है। चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयों का अनासक्त भाव से भोग ही इन्द्रियजय कहलाता है। क्योंकि समस्त शास्त्रों में प्रतिपादित विषय ही इन्द्रियजय के कारण बन सकते हैं। उनके विरुद्ध आचरण करनेवाला इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकता। यदि वह चारों समुद्रपर्यन्त फैली पृथ्वी का सम्राट् हो तो भी तत्काल नष्ट हो जाता है।"[1]

इस सम्बन्ध में उदाहरण देते हुए कौटिल्य ने आगे लिखा है कि भोजवंशी राजा दाण्डक्य और विदेह अधिपति कराल कामवश, राजा जनमेजय तथा तालजंघ क्रोधवश, राजा पुरुवा तथा सौवीर नरेश अजविन्दु लोभवश, रावण और दुर्योधन अभिमानवश, हैहय नरेश अर्जुन मद (गर्व) वश तथा असुर वातापि एवं यादव समुदाय हर्ष के वशीभूत होकर नष्ट हो गया था तथा अन्य भी अनेक राजा काम, क्रोध आदि के वशीभूत होकर नष्ट हो चुके हैं। इसके विपरीत काम, क्रोध आदि सब शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर परशुराम, अम्बरीष और नाभाग आदि ने चिरकाल तक पृथ्वी का भोग किया।

भारवि ने उपर्युक्त श्लोक में कौटिल्य अर्थशास्त्र के उन तमाम सिद्धान्तों को किस मधुरता के साथ उपस्थित किया है जिसके फलस्वरूप राजनीति शुष्क

---

१. विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः।
अनन्यां पृथिवीं भुंक्ते सर्वभूतहिते रतः॥

विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्यः। कर्णत्वगक्षिजिह्वाघ्राणेन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेष्वविप्रतिपत्तिरिन्द्रियजयः शास्त्रानुष्ठानं वा। कृत्स्नं हि शास्त्रमिन्द्रियजयः।

तद्विरुद्धवृत्तिरवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति। यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश। करालश्च वैदेहः। कोपाज्जनमेजयो ब्राह्मणेषु विक्रान्तः, तालजंघश्च भृगुषु। लोभादैलश्चातुर्वर्ण्यमत्याहारयमाणः सौवीरश्चाजबिन्दुः। मानाद्रावणः परदारानप्रयच्छन्। दुर्योधनो राज्यादंशं च। मदाड्डम्भोद्भवो भूतावमानी हैहयश्चार्जुनः। हर्षाद्वातापिरगस्त्यमत्यासादयन्, वृष्णिसंघश्च द्वैपायनमिति।

एते चान्ये च बहवः शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः।
सबन्धुराष्ट्रा राजानो विनेशुरजितेन्द्रियाः॥
शत्रुषड्वर्गमुत्सृज्य जामदग्न्यो जितेन्द्रियः।
अम्बरीषश्च नाभागो बुभुजाते चिरं महीम्॥

कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ० १६।१७

राजनीति न रहकर मधुर काव्य बन गई है। इस पर सहृदय पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।

किरातार्जुनीयम् में न केवल राजनीति के ग्रन्थों का ही प्रभाव मिलता है अपितु दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों की भी पर्याप्त छाया उपलब्ध होती है। भारवि के दार्शनिक विचार सर्वाधिक सांख्यदर्शन से प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं।

महर्षि व्यास की मन्त्रणा के अनुसार अर्जुन शस्त्र प्राप्ति के हेतु इन्द्रकील पर्वत पर जाने को प्रस्तुत होते हैं। उस अवसर पर महर्षि व्यास ने अर्जुन को योगविद्या की शिक्षा दी। उसकी ही चर्चा करते हुए भारवि ने लिखा है कि :

"मुनिवर व्यास ने परम योग्य अर्जुन को वह योगविद्या अपने तपोबल के प्रभाव से शीघ्र ही प्रदान की जिसके द्वारा प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों[1] का साक्षात्कार हो जाने के कारण अर्जुन के नेत्र चिरकाल के लिए उन्मीलित हो गए।"[2]

भारवि के उपर्युक्त श्लोक में योगदर्शन में बतलाए हुए उस सिद्धान्त की स्पष्ट छाया है जिसे वहां "ऋतम्भरा तत्प्रज्ञा"[3] सूत्र द्वारा प्रतिपादित किया गया है जिसमें बताया गया है कि योगी को समाधि की सिद्धि प्राप्त होने पर ऋतम्भरा प्रज्ञा की सिद्धि होती है जिसके फलस्वरूप वह विश्व के समस्त पदार्थों को वास्तविक रूप से पहचान लेता है। उस सिद्धान्त के अनुसार ही यहाँ योग-ज्ञान के अनन्तर अर्जुन को समस्त तत्त्वज्ञान की प्राप्ति बतलाई गई है।

उपर्युक्त श्लोक में तत्त्व शब्द द्वारा सांख्यदर्शन[4] के उन २४ तत्त्वों की चर्चा की गई है, सांख्य के अनुसार जिन्हें जानकर पुरुष त्रिविध दुःखों से मुक्ति प्राप्त करता है।

राजनीति और दर्शनशास्त्रों का ही नहीं भारवि के काव्य में उनके पूर्ववर्ती महाकवियों की कृतियों का भी पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इनमें

---

१. "मूलप्रकृति, महान्, अहंकार, मन, पंच तन्मात्राएं, पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और पांच मह" सांख्यदर्शन के अनुसार ये चौबीस हैं, पुरुष जिनका साक्षात्कार करता है।

२. "योगं च तं योग्यतमाय तस्मै तपःप्रभावाद्वितताार सद्यः।
येनास्य तत्त्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षुः॥ ३.२६

३. योगदर्शन समाधिपाद ४८।

४. प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकार अहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि उभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पूरुषः इति पञ्चविंशतिगणः।

सांख्यदर्शन, अध्याय प्रथम।

कालिदास, अश्वघोष तथा विशाखदत्त प्रमुख हैं। सर्वप्रथम कालिदास को ही लें। उनके रघुवंश महाकाव्य के भावों तथा शैली का साम्य किरातार्जुनीयम् में कतिपय स्थानों में देखा जा सकता है।

कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में दिलीप-सिंह संवाद के अवसर पर दिलीप के मुख से कहलाया है कि "क्षत्र" शब्द इस व्युत्पत्ति के साथ विश्व में प्रसिद्ध है कि वह क्षत से त्राण करता है।[1] भारवि का निम्नलिखित श्लोक मानो स्पष्टतः उसका अनुकरण करता हुआ प्रतीत होता है जहाँ उन्होंने अर्जुन के सम्बन्ध में यह बतलाया है कि जो सज्जनों की रक्षा करने में समर्थ है वही क्षत्रिय है।[2] इस स्थल पर भारवि में भले ही कालिदास-सा माधुर्य न आ सका हो किन्तु कालिदास के समस्त भाव को लेते हुए भी अधिक अर्थ भर देने की जो सफलता उन्हें प्राप्त है वह कालिदास में सम्भव नहीं है।

महाकवि कालिदास ने रघुवंश में दिलीप की गो-सेवा की चर्चा करते हुए लिखा है कि दिलीप ने उस गौ का छाया के समान अनुगमन किया, जब गौ स्थित होती थी दिलीप स्थित होते थे, गौ के गतिशील होने पर वे भी चलते थे, गौ के बैठने पर वे भी आसन लगाकर बैठ जाते थे, गौ के जल पीने पर वे भी जल पीते थे।[3] महाकवि भारवि के निम्नलिखित श्लोक में हमें उसका पूरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है जब मुनिगण शंकर के समक्ष उपस्थित होकर अर्जुन की तपस्या से उत्पन्न कष्ट का वर्णन करते हुए कहते हैं कि :

"उसके चलने से धरती चलने लगती है, उसके समाधिस्थ होने पर एवं इन्द्रियों का निरोध होने पर दिशाओं समेत प्रशान्त वायु तथा ग्रह नक्षत्रों से युक्त आकाशमण्डल भी निश्चलता का अनुभव करता है।"[4] इत्यादि।

इसी भांति रघुवंश में कालिदास ने इन्दुमती स्वयंवर के अवसर पर अङ्गराज का परिचय देकर इन्दुमती के द्वारा उसकी उपेक्षा करते हुए सुनन्दा

---

१. क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
रघुवंश २।५३

२. स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः।
किरातार्जुनीयम् ३।४८

३. स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥ रघुवंश २।६

४. चलनेऽवनिश्चलति तस्य करणनियमे सदिङ्मुखम्।
स्तम्भमनुभवति शान्तमरुद्ग्रहतारकागणयुतं नभस्तलम्॥
किरात० १२।२८

के प्रति यह कहलाया कि आगे बढ़ो। इस सम्बन्ध में ही अङ्गराज की उपेक्षा के कारण की कल्पना करते हुए कालिदास ने लिखा है कि :

"यह बात न थी कि वह कमनीय न था और यह भी न था कि इन्दुमती उसे न जान सकी अपितु वास्तविकता तो यह थी कि लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न प्रकार की हुआ करती है।"[1]

इसी प्रकार भारवि ने भी शिवदूत के प्रति अर्जुन से कहलाया है कि कुछ विद्वान लोग अर्थ सम्पत्ति की प्रशंसा करते हैं किन्तु कुछ विद्वानों का कथन है कि वक्ता का सबसे अधिक प्रशंसनीय गुण शब्दशुद्धि है। इस प्रकार पुरुष की रुचि भिन्न होने से सर्वमनोहर वाणी दुर्लभ है।[2]

युद्ध के प्रसङ्ग में भी महाकवि भारवि पर कालिदास की छाया कहीं-कहीं दिखलाई पड़ती है किन्तु इस प्रसंग में यह ध्यान रखने की बात है कि युद्ध की आदर्श मर्यादाओं की दृष्टि से भारवि महाकवि कालिदास को पीछे छोड़ देते हैं।

इन्दुमती स्वयंवर से सफल होकर लौटते हुए अज पर इन्दुमती की प्राप्ति में निराश राजाओं ने सम्मिलित होकर आक्रमण किया। उस अवसर पर अज के युद्ध कौशल का वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं कि :

"प्रथम प्रहार करनेवाले अज ने प्रतिप्रहार करने में असमर्थ घुड़सवार पर पुनः प्रहार नहीं किया किन्तु उसके होश में आने की प्रतीक्षा करने लगा।"[3]

महाकवि भारवि ने शंकर और अर्जुन के युद्ध का वर्णन करते हुए लिखा है कि :

"अर्जुन के प्रथम बार छोड़े गए बाणों ने शत्रुओं के कवचों का भेदन कर उनके शरीरों पर जो घाव किये थे उन पर दूसरी बार छोड़े गए बाणों ने पुनः प्रहार नहीं किया।"[4]

---

१. भिन्नरुचिर्हि लोकः—रघुवंश ६।३०

२. इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः।
किरातार्जुनीयम् १४।५

३. पूर्वप्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी।
तुरंगमस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकांक्ष ॥
रघुवंश ७।४७

४. द्विषां क्षतीर्याः प्रथमे शिलीमुखा विभिद्य देहावरणानि चक्रिरे।
न तासु पेते विशिखैः पुनर्मुनेररुंतुदत्वं महतां ह्यगोचरः ॥
किरातार्जुनीयम् १४।५५

कालिदास के उपर्युक्त श्लोक में जहाँ केवल धर्मयुद्ध की चर्चा है वहीं सचेत योद्धा के घावों पर प्रहार न कर धर्मयुद्ध की दृष्टि से भारवि का वर्णन श्रेष्ठ तो होता है साथ ही "देहावाण भेदन" तथा "व्रणों पर प्रहार न करने" का कथन करते हुए नायक की वीरता-वर्णन में भारवि ने कालिदास का पूर्णतः अतिक्रमण कर दिया है।

रससिद्ध कवि कालिदास रसोन्मीलन में सर्वश्रेष्ठ हैं इसे सभी स्वीकार करते हैं किन्तु इस दिशा में भी भारवि ने उनकी छाया का आश्रयण कर कहीं-कहीं मानो स्पर्धा-सी की है। जैसे गोचारण करते हुए दिलीप ने गौ पर आक्रमण करनेवाले सिंह पर प्रहार हेतु जब अपना हाथ तरकश की ओर बढ़ाया उस स्थिति का चित्रण करते हुए कालिदास ने लिखा है कि :

"प्रहार करनेवाले राजा दिलीप का वामहस्त उँगलियों की प्रभा से भासित कंकपत्र युक्त बाणों के पुच्छ भाग में संसक्त हो गया और दिलीप चित्रलिखित से खड़े रह गए।"[1]

शंकर के साथ युद्ध करते हुए अर्जुन के तरकश जब शंकर की माया से रिक्त हो उठे उस अवसर पर अर्जुन की स्थिति का वर्णन करते हुए भारवि ने लिखा है कि :

"शंकर जी द्वारा बाणों के समाप्त कर दिए जाने पर अर्जुन का हाथ अपने बाणशून्य तरकश के मुख पर इस प्रकार विश्वासपूर्वक दूसरा बाण निकालने के लिए पहुँचा जिस प्रकार दूसरे हाथी द्वारा सम्पूर्ण जल पी लेने पर चिरपरिचित पर्वतीय दरार के सम्मुख किसी प्यासे गजराज का सूंड़ इधर-उधर फिर रहा हो। कर्तव्य के अन्वेषण में समुत्सुक एवं धरती को जीतने के इच्छुक नायक की बुद्धि जिस प्रकार नीति और उपाय दोनों का सहारा लेती है उसी प्रकार अर्जुन का हाथ अपने दोनों तूणीरों के मुख को वेग के साथ आते-जाते हुए स्पर्श करता रहा।"[2]

---

१. वामेतरस्तस्य करः प्रहर्त्तुर्नखप्रभाभूषितकंकपत्रे।
सक्तांगुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥
रघुवंश २।३१

२. रिक्ते सविस्रम्भमथार्जुनस्य निषंगवक्त्रे निपपात पाणिः।
अन्यद्विपापीतजले सतर्षं मतंगजस्येव नगाश्मरन्ध्रे ॥ ३६ ॥
आघट्टयामास गतागताभ्यां सावेगमग्रांगुलिरस्य तूणौ।
विधेयमार्गे मतिरुत्सुकस्य नयप्रयोगाविव गां जिगीषोः ॥ ३८ ॥
किरात० सप्तदश सर्ग

कालिदास के श्लोक में जहाँ केवल दिलीप की विवशता के साथ अद्भुत रस की झलक प्रतीत होती है वहाँ भारवि के इस प्रकरण में अद्भुत के साथ ही कर्तव्य के लिए प्रथ-प्रदर्शन मिलता है ।

भारवि के काव्य में कुछ स्थलों पर हमें अश्वघोष कृत बुद्धचरितम् से साम्य प्रतीत होता है । सम्भव है भारवि की रचना में उसका भी प्रभाव पड़ा हो, जैसे कि बुद्ध का "काम से युद्ध तथा अर्जुन पर काम का अप्सराओं की सेना सहित आक्रमण" ये दोनों बातें एक ही प्रकार की हैं । इसी प्रकार दोनों ही स्थलों पर बुद्ध और अर्जुन का शत्रु पर प्रत्याक्रमण (Counter-invasion) किये बिना ही विजय प्राप्त करना भी इसी बात की पुष्टि करता है ।[1]

पंचम शती के मध्यवर्ती महाकवि विशाखदत्त के विचारों का प्रभाव भी भारवि पर पड़ा था । महापुरुषों के स्वभाव का वर्णन करते हुए विशाखदत्त कहते हैं कि :

"महापुरुषों की कुल परम्परा ही कुछ ऐसी चलती आ रही है कि वे जिस काम को ठान लें अन्त तक उसे पूरा कर दिखाते हैं । शेषनाग का शरीर पृथ्वी के बोझ से कितना भी पीड़ित क्यों न हो किन्तु वह उसे उतार के फेंक नहीं देता है । सूर्य निरन्तर चलते-चलते कितना क्यों न थक जाए किन्तु वह कभी भी स्थिर नहीं होता ।"[2]

इसी बात को भारवि ने दूसरी शब्दावली में अर्जुन के मुख से इस प्रकार कहलाया है :

"किसी को अपने पास आने का अवसर न देना—इस प्रकार के व्रत का उपदेश महर्षि व्यास ने दिया है । यह मृग मेरे वध की कामना करता था अतः मैंने इसका वध किया है क्योंकि व्रत की रक्षा करना सज्जनों का आभूषण है ।"[3]

एक अन्य स्थल पर तो भावों के साम्य के साथ-साथ शब्दावली तक का

---

१. तुलनीय किरातार्जुनीय सर्ग ७, ८, ९, १० तथा बुद्धचरितम् सर्ग १३ ।

२. किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि ? क्ष्मां न क्षिपत्येष यत् ,
किं वा नास्ति परिश्रमो दिनपते : ? आस्ते न यन्निश्चलः ।
किन्त्वंगीकृतमुत्सृजन् कृपणवत् श्लाघ्यो जनो लज्जते,
निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम् ।।
—मुद्राराक्षस २।१८

३. न वर्त्म कस्मैचिदपि प्रदीयतामिति व्रतं मे विहितं महर्षिणा ।
जिघांसुरस्मान्निहतो मया मृगो व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया ।।
किरातार्जुनीयम् १४।१४

साम्य मिल जाता है। राजाओं की प्रकृति का वर्णन करते हुए विशाखदत्त कहते हैं कि :

"साधारण जन भी सहसा अपने मनोरंजन का रंग-भंग किया जाना नहीं सह सकते हैं तो फिर लोकाधिक धाम धारण करनेवाले राजा के विषय में क्या कहना।"[१]

इसी को भारवि ने युधिष्ठिर से इस ढंग से कहलाया है :

"एक साधारण व्यक्ति भी तिरस्कार को सहन नहीं करता है तो फिर लोकाधिक धाम धारण करने वाले राजाओं के विषय में क्या कहना ?"[२]

भर्तृहरि को यदि भारवि का पूर्ववर्ती मानें तो हम देखते हैं कि उनके शतकत्रय (नीति, श्रृंगार और वैराग्य) का भी पर्याप्त प्रभाव भारवि के महाकाव्य में पड़ा है।

राजर्षि भर्तृहरि ने मनस्वी का परिचय देते हुए बताया है कि वे फूल के गुच्छे की तरह होते हैं जो या तो विश्व के सिर पर स्थान पाते हैं अथवा वन में ही विलीन हो जाते हैं।[३] भारवि के निम्नलिखित श्लोक में हमें अर्जुन के मुख से कुछ ऐसा ही सुनने को मिलता है कि जिस प्रकार वायु से छिन्न-भिन्न होकर बादल विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार मैं भी इस पर्वत पर या तो विलीन हो जाऊँगा या इन्द्र की सम्यक् आराधना कर अपने अपयशरूप कलंक का उद्धार करूँगा।[४]

इससे पूर्व अब तक उन स्थानों को दिखलाने का प्रयत्न किया गया जहाँ भारवि पूर्व आचार्यों या कवियों के विचारों से प्रभावित रहे हैं। इसके अनन्तर

---

१. सद्य क्रीडारसच्छेदं प्राकृतोऽपि न मर्षयेत्।
किमु लोकाधिकं धाम बिभ्राणः पृथिवीपतिः ॥
मुद्राराक्षस ४।१०

२. उपजापसहान्विलंघयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धतः।
सहते न जनोऽप्यधःक्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम् ॥
किरातार्जुनीयम् २।४७

३. कुसुमस्तबकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्येत वनेऽथवा ॥ नीतिशतक १०५

४. विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि।
आराध्य वा सहस्राक्षमयशःशल्यमुद्धरे ॥
किरातार्जुनीयम् ११।७९

अब उन उदाहरणों को उपस्थित करना आवश्यक है जिनसे परवर्ती अनेक कवियों को काव्य के लिए प्रेरणा प्राप्त होती रही है।

भारवि से परवर्ती कवियों में सर्वप्रमुख माघ और श्रीहर्ष माने जा सकते हैं। इनके काव्यों के अनुशीलन से पता चलता है कि महाकवि माघ मानो इनके काव्य का संबल लेकर ही साहित्यिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हों और इसी का परिणाम है कि राजनीतिक कवि भारवि के अनुकरणकर्ता माघ का शिशुपालवध महाकाव्य भी राजनीतिक काव्य बन बैठा। भारवि का किरातार्जुनीयम् महाभारत के कथानक को लेकर प्रथमसर्ग में दूत सन्देश के साथ आगे बढ़ता है वहीं माघ का शिशुपालवध भी महाभारत का उपजीवी होकर दौत्यभाव प्राप्त नारद के प्रवेश से ही उपस्थित होता है। दूत-वाक्य के अनन्तर किरात में द्रौपदी, भीम और युधिष्ठिर के बीच मन्त्रणा होती है वहीं शिशुपालवध में भी बलराम, श्रीकृष्ण और उद्धव के बीच भी राजनीतिक परामर्श होता है। किरात में यदि युधिष्ठिर शान्त प्रकृति के हैं तो माघ के उद्धव उसी पथ के पथिक। किरात में महर्षि व्यास की प्रेरणा से अर्जुन तपस्या हेतु प्रस्थान करते हैं तो माघ में देवर्षि नारद कृष्ण को प्रस्थान हेतु प्रेरणा देते हैं। भारवि के अर्जुन अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए यदि इन्द्रकील पर्वत पर प्रस्थान करते हैं तो माघ के कृष्ण रैवतक पर। किरात में हिमालय का वर्णन यमकालङ्कार से सुसज्जित है तो माघ का रैवतक भी उसी प्रकार चित्रित। अप्सराओं का विहार दोनों में समानरूप से सौन्दर्यवर्द्धक है। किरात में किरातवेशधारी शिव प्रतिपक्षी अर्जुन के अपमान हेतु दूत भेजते हैं तो माघ में शिशुपाल कृष्ण के अनादर हेतु दूत का आश्रयण लेते हैं। किरात में अर्जुन तथा किरातवेश-धारी शिव के दूत में वाद-विवाद होता है तो माघ में शिशुपाल के दूत तथा सात्यकि में। युद्ध-वर्णन दोनों में समानरूप से विविध बन्धों और चित्रालङ्कारों से सुभूषित है। दोनों में ही सन्ध्या, रात्रि, चन्द्रोदय, ऋतुओं और यात्रा का यथास्थान वर्णन है। भारवि ने ग्रन्थ का प्रारम्भ "श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीम्..." श्लोक में "श्री" शब्द द्वारा किया है तो माघ ने भी "श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्..." इत्यादि श्लोक में भी "श्री" शब्द द्वारा ही। भारवि ने सर्गान्त श्लोक में "लक्ष्मी" शब्द का प्रयोग करते हुए मानो मुद्रा का व्यवहार किया है तो माघ ने भी प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में "श्री" शब्द का प्रयोग करते हुए उसका ही अनुकरण किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि माघ की काव्य-रचना में भारवि पग-पग पर पथ-प्रदर्शक होकर स्थित हैं।

भारवि के न केवल भावानुकरण के ही किन्तु बहुधा शैली, भाषा और अलंकारों तक के अनुकरण के विविध उदाहरण शिशुपालवध में प्राप्त होते हैं।

विस्तार के भय से यद्यपि हम इसके उदाहरणों के वितान में नहीं जाना चाहते हैं फिर भी एक दो स्थलों को देख लेना अनुचित न होगा। द्वैतवन में युधिष्ठिर के समक्ष महर्षि व्यास के उपस्थित होने पर युधिष्ठिर उनके सत्कार हेतु प्रस्तुत होते हैं। इसका वर्णन करते हुए भारवि ने लिखा है कि :

"(महर्षि व्यास के स्वागत हेतु) अपने उन्नत सिंहासन से उठते हुए राजा युधिष्ठिर के अरुणाभ वल्कल हिल उठे। उस समय में वे पीले रङ्ग के किरणनिकर को विस्तृत करनेवाले सुमेरु पर्वत शिखर पर उठते हुए सूर्य की भाँति सुशोभित हुए।"[१]

महाकवि माघ ने भी नारद के आने पर श्रीकृष्ण द्वारा उसी प्रकार सत्कार परम्परा का वर्णन करते हुए लिखा है कि :

"अस्ताचल को प्राप्त होते हुए अरुण सूर्य के सदृश नभोमण्डल से देवर्षि नारद के अवतीर्ण होते ही श्रीकृष्ण अपने आसन से उसी प्रकार सवेग उठ खड़े हुए जैसे पर्वत के शिखर पर बादलों में विद्युत्।"[२]

महाकवि माघ उस एक श्लोक में भारवि की पूरी छटा न देखकर एक दूसरे श्लोक द्वारा उसी का अनुसरण करते हुए पुनः दिखलाई पड़ते हैं कि :

"नवीन श्यामल मेघ के सदृश श्यामवर्ण कृष्ण अरुणाभ सुमेरु श्रृंग सदृश आसन पर आसीन हुए।"[३]

प्रस्तुत उदाहरणों में भारवि "उच्चकैः आसनतः" (ऊँचे आसन से) युधिष्ठिर को अवतीर्ण होते हुए देखते हैं तो माघ भी "उच्चकैः गिरेः" (ऊँचे पर्वत से) सूर्य को अवतीर्ण होता हुआ देखते हैं। भारवि के युधिष्ठिर "कपिशांशुजालः तिग्मरश्मिः इव धूतारुणपल्लवाग्रः" हैं तो माघ के नारद "पतत्पतंगप्रतिम" नारद हैं। भारवि का वह आसन "सुमेरोः श्रृंगादिव" है जिससे राजा युधिष्ठिर अवतीर्ण हुए हैं तो माघ का वह आसन "सुमेरुश्रृंगस्य

---

१. अथोच्चकैरासनतः पराघ्यार्दुद्यन्स धूतारुणवल्कलाग्रः।
रराज कीर्णाकपिशांशुजालः श्रृंगात्सुमेरोरिव तिग्मरश्मिः ॥ ५७ ॥
किरातार्जुनीयम्, द्वितीय सर्ग

२. पतत्पतंगप्रतिमस्तपोनिधिः पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ॥ १२ ॥
शिशुपालवध, प्रथम सर्ग

३ स काञ्चने यत्र मुनेरनुज्ञया नवाम्बुदश्यामवपुर्न्यविक्षत।
जिगाय जम्बूजनितश्रियः श्रियं सुमेरुश्रृंगस्य तदा तदासनम् ॥ १९ ॥
शिशुपालवध, प्रथम सर्ग

श्रियम्" धारण कर रहा था। यह है भारवि के काव्य का माधुर्य जो माघ जैसे महाकवि का सर्वशः अनुकार्य बना हुआ है।

इसके अतिरिक्त शिशुपालवध से कुछ स्थल ऐसे भी देख लेने चाहिये जिन पर भारवि की शैली की स्पष्ट छाप है। भारवि के युधिष्ठिर, भीम को समझाते हुए कहते हैं कि :

"अभ्युदय के इच्छुक पुरुष को क्रोध से उत्पन्न अन्धकार को अपनी सद्बुद्धि द्वारा दूर करना चाहिए। क्योंकि भगवान् भास्कर भी अपनी कान्ति से रात्रि के अन्धकार को दूर किये बिना उदित नहीं होते।"[1]

इसी शैली का अनुकरण करते हुए महाकवि माघ के बलराम कृष्ण से कहते हैं कि उन्नत शत्रुओं के सिर पर अनायास पैर रक्खे बिना आधारहीन कीर्ति द्युलोक में कैसे आरोहण कर सकती है।[2]

इसी भाँति भीम के सम्भाषण के आरम्भ की भूमिका करते हुए भारवि ने एक स्थल पर लिखा है कि :

"तदनन्तर भीम ने प्रियतमा द्रौपदी के द्वारा उक्त वचन को हितोपदेशक तथा सारगर्भित मानकर युधिष्ठिर के समक्ष युक्तियुक्त तथा उदार अभिप्राय से पूर्ण वचनों में समर्थन करते हुए कहा।"[3]

भारवि की उपर्युक्त शैली का अनुसरण करते हुए महाकवि माघ उद्धव के भाषण के प्रारम्भ की भूमिका करते हुए लिखते हैं कि :

"कृष्ण की अनुमति के अनन्तर अर्थगौरवपूर्ण यथार्थवाणी में गद के ज्येष्ठ भाई श्रीकृष्ण के समक्ष बोले।"[4]

---

१. अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताऽप्युदीयते॥

किरातार्जुनीयम् २।३६

२. अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम्।
कथंकारमनालम्बा कीर्तिर्द्यामधिरोहति॥

शिशुपालवध २।५२

३. विहितां प्रियया मनःप्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम्।
उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः॥

किरातार्जुनीयम् २।१

४. भारतीमाहितभरामथानुद्धतमुद्धवः।
तथ्यामुतथ्यानुजवज्जगादाग्रे गदाग्रजम्॥ ६९॥

शिशुपालवध, २ सर्ग

माघ और भारवि के निम्नलिखित स्थलों में सिद्धान्त की समानता भी तुलनीय है। भारवि लिखते हैं :

"सिंह अपने द्वारा मारे गये मद भीगे हुए मुखवाले हाथियों से ही अपनी जीविका निर्वाहित करता है। अपने तेज से संसार को पराजित करनेवाला महान् पुरुष किसी अन्य की सहायता से ऐश्वर्य की अभिलाषा नहीं किया करता।"[1]

भारवि की इस उक्ति का माघ के निम्नलिखित कथन में प्रतिबिम्ब द्रष्टव्य है :

"इसके अनन्तर युधिष्ठिर के द्वारा की गई श्रीकृष्ण की पूजा को चेदिराज शिशुपाल न सह सका। ठीक ही है, मानीजन दूसरों की उन्नति को नहीं सह पाते हैं।"[2]

भारवि के परवर्ती द्वितीय महाकवि हैं श्रीहर्ष जिन्हें स्वयं अपने महाकाव्य पर और अपनी रचना-शैली पर गर्व था, किन्तु भारवि की ललित रचना की ऐसी सुस्पष्ट छाप उनके महाकाव्य में मिलती है मानो वहाँ उसका मूलतः अनुकरण किया गया हो। उदाहरणार्थ कुछ प्रसंग यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

श्रीहर्ष ने रात्रि में स्वतः नदी के दो तटों पर होकर विरहव्यथा में व्यथित होनेवाले चक्रवाक युगल का उद्धरण देते हुए स्वीकार किया है :

"भाग्य द्वारा नियन्त्रित चेतन प्राणी की चेष्टाओं के सम्बन्ध में यह चक्रवाक उदाहरण स्वरूप हैं।"[3]

इस अंश की तुलना जब हम भारवि के उस अंश से करते हैं, जहाँ कि उन्होंने लिखा है कि "अपनी प्रेमिकाओं के वियोग के अनिच्छुक रात्रि में वियुक्त रहने वाले चक्रवाक पक्षियों के जोड़े (बेचारे) वियुक्त होकर ही रहे, सच है

---

१. मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्त्तयते स्वयं हतैः।
लङ्घयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः॥
किरातार्जुनीयम् २।१८

२. अथ तत्र पाण्डुतनयेन सदसि विहितं मधुद्विषः।
मानमसहत न चेदिपतिः परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम्॥
शिशुपालवध १५।१

३. अपि विरहमनिष्टमाचरन्तावधिगमपूर्वकपूर्वसर्वचेष्टौ।
इदमहह निदर्शनं विहंगौ विधिवशचेतनचेष्टितानुमाने॥
नैषधीयचरितम् २१।१३३

दैव की आज्ञा का उल्लंघन कौन कर सकता है"[1] तो स्पष्ट पता चलता है कि श्रीहर्ष भारवि से कितने प्रभावित हैं।

एक अन्य स्थल पर श्रीहर्ष ने इन्द्र के वचनों को सुनकर नल द्वारा उत्तर की भूमिका उपस्थित करते हुए लिखा है कि :

"अत्यन्त बुद्धिमान राजा नल ने इन्द्र के वचनों से ही उनके कपट को पहचान कर तदनुसार ही उत्तर दिया, क्योंकि कुटिल जनों के प्रति ऋजुता का व्यवहार उचित नहीं होता।"[2]

श्रीहर्ष की उपर्युक्त कल्पना में शब्दयोजना यद्यपि उनकी ही है किन्तु अर्थान्तरन्यास द्वारा घोषित सिद्धान्त के लिए वे निस्सन्देह भारवि के ऋणी हैं। इसका निश्चय भारवि के निम्नलिखित अंश को देखकर स्वतः लग जाता है कि :

"वे मूर्ख लोग निश्चय ही पराजित होते हैं जो मायावी जनों के साथ माया का व्यवहार नहीं करते।"[3]

भारवि ने वनेचर दूत से युधिष्ठिर को दुर्योधन के कार्यों का विवरण सुनाते हुए एक सामान्य-सी बात अर्थान्तरन्यास के माध्यम से कह दी है "वरं विरोधोपि समं महात्मभिः"[4] अर्थात् बड़े लोगों के साथ विरोध करना भी कल्याणकारी होता है।

भारवि का यह छोटा-सा वाक्य श्रीहर्ष के लिये मानो कल्पना के हेतु एक आश्रय के रूप में ही उपस्थित हुआ है क्योंकि श्रीहर्ष ने इसी सिद्धान्त का आश्रय लेकर दमयन्ती के कुचों की सराहना करते हुए लिखा है कि :

"इसके कुचों की स्पर्धा करते हुए "घट" को न्याय आदि शास्त्रों में उदाहरण के रूप में प्रसिद्धि मिली तथा इनके (कुचों) सदृश घटों के शिल्प

---

१. इच्छतां सह वधूभिरभेदं यामिनीविरहिणां विहगानाम् ।
आपुरेव मिथुनानि वियोगं लंघते न खलु कालनियोगः ।।
किरातार्जुनीयम् ९।१३

२. तेन तेन वचसैव मघोनः स स्म वेद कपटं पटुरुच्चैः ।
आचरत्तदुचितामथ वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ।। १०३ ।।
नैषधीयचरितम् , सर्गः ५

३. व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृतांगान्निशिता इवेषवः ।।
किरातार्जुनीयम् १।३०

४. किरातार्जुनीयम् १।८

में कुशल मिट्टी के दीपक, कुल्हड़ आदि बनानेवाले को कुम्भकार की महनीय संज्ञा प्राप्त हुई है।"[1]

यहाँ पर कुच जैसी उत्तम वस्तु के साथ प्रतिद्वन्द्विता के कारण ही घट और कुम्भकार को यह सौभाग्य मिला।

भारवि का यह काव्य न केवल कवियों के लिए ही प्रेरणादायक रहा है अपितु महिमभट्ट जैसे अभिमानी साहित्यालोचकों का भी पथ-प्रदर्शन करता रहा है और यही कारण है कि उपर्युक्त (किरातार्जुनीयम् १।८) को ही दूसरे शब्दों में अपने ग्रन्थ के आरम्भ में अनूदित करते हुए ही वे आचार्य आनन्दवर्धन की आलोचना में प्रवृत्त हुए।[2]

राजशेखर के ऊपर भी भारवि की बहुत गहरी छाप पड़ी है। भारवि का कथन है कि :

"युवावस्था की मनोहारिणी शोभा मन का हरण कर लेती है।"

राजशेखर इससे इतना अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने इस छोटी-सी उक्ति का उपबृंहण दो श्लोकों में किया। वे कहते हैं कि :

"यद्यपि स्त्रियों के अङ्गों की शोभा में ही सौन्दर्य होता है, फिर भी युवावस्था में सौन्दर्य अधिष्ठात्री देवता की तरह रहता है अर्थात् युवावस्था में विशेष सौन्दर्य दिखलाई पड़ता है।"[3]

इसी बात को एक अन्य स्थल पर वे पुनः दोहराते हुए कहते हैं कि :

"बजते हुए कंकण, करधनी और पायजेबों के पहनने से उत्पन्न होनेवाली शोभा तो कुछ भी नहीं है, मरकतमणियों की माला तथा सोने का हार भी रहने दो। हृदय को वश में करनेवाला तथा कामदेव के छठे और प्रबल बाण के समान कामिनियों का यह यौवन ही सर्वोत्कृष्ट है।"[4]

---

१. एतत्कुचस्पर्धितया घटस्य ख्यातस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम्।
तस्माच्च शिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्धनामाजनि कुम्भकारः॥
नैषधीयचरितम् ७।७५

२. नियतं यशसे प्रपत्स्यते यन्महता संस्तव एव गौरवाय।
व्यक्तिविवेक १।३

३. इह यद्यपि कामिनीनां सौन्दर्यं धारयत्ववयवानां श्रीः।
अधिदेवतेव निवसति तथापि खलु तारुण्ये लक्ष्मीः॥
कर्पूरमंजरी २।४८

४. रणितवलयकाञ्चीनूपुरावासलक्ष्मीर्मरकतमणिमाला गौरिका हारयष्टिः।
हृदयहरणयंत्रं यौवनं कामिनीनां जयति मदनकाण्डः षष्ठको वर्द्धकश्च॥
कर्पूरमञ्जरी ३।१८

भारवि ने चक्रवाक का वर्णन करते हुए लिखा है कि :

"उसने दिन में चक्रवाकी के साथ रहकर तो सूर्य की तीव्र किरणों को सह लिया किन्तु रात्रि में उसके वियोग में चन्द्रमा की शीतल किरणों को न सह सका।"[१]

राजशेखर ने इन्हीं भावों को कर्पूरमञ्जरी की विरहावस्था का वर्णन करते हुए व्यक्त किया है :

"यदि इससे भी उनका सन्ताप ठीक न जाना जाय तो सन्तोष और डर उत्पन्न करनेवाली यह बात सुनिये। हाथ के छत्र से ही चन्द्रमा की किरणों को बचाती हुई वह किसी तरह रात काटती है।"[२]

हितोपदेश का वह अंश द्रष्टव्य है जिसमें कहा गया है कि :

"गुणीजनों की गणना के अवसर पर जिनके नाम के लिये लेखनी तत्काल गतिशील नहीं हो जाती है, ऐसे पुत्र के द्वारा भी यदि माता पुत्रवती है तो फिर वन्ध्या कौन होगी।"[३]

यहाँ हमें भारवि के उस श्लोक की स्पष्ट छाया प्रतीत होती है जिसमें कहा गया है कि :

"उसी पुरुष का जन्म सार्थक है जिसका नाम योग्य पुरुषों की गणना के अवसर पर अंगुली पर आता है, द्वितीय नहीं।"[४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारवि ने विभिन्न विषयों का मुख्यतः राजनीति का गहन ज्ञान प्राप्त किया था जिसे लेकर वे काव्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए

---

१. आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन।
सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम्॥
किरातार्जुनीयम् ९।३०

२. किं तेनापीमां निशामय गिरं सन्तोषिणीं त्रासिनी।
हस्तच्छत्रनिवारितेन्दुकिरणातिवाहयति सा यामिनीम्॥
कर्पूरमञ्जरी २।२९

३. गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससम्भ्रमा यस्य।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी नाम॥
हितोपदेश मित्रलाभ

४. स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरःस्थिते।
नान्यामगुंलिमभ्येत संख्यायामुद्यतांगुलिः॥
किरातार्जुनीयम् ११।६२

थे। उनके काव्यों में हमें विविध विषयों के साथ-साथ कालिदास, अश्वघोष आदि पूर्ववर्ती कवियों के काव्यज्ञान का संकेत अवश्य मिलता है किन्तु सर्वत्र अपनी कल्पना में, अपने नवीन परिधान में। भारवि की विशेष प्रतिभा और व्युत्पत्ति के परिणामस्वरूप उनका किरातार्जुनीय महाकाव्य परवर्ती कवियों के लिए संबल बनकर रहा है। विशेषतः महाकवि माघ के लिए तो आदर्शरूप। अपने वैशिष्ट्य के आधार पर यह भविष्य में आनेवाले कवियों के लिए भी प्रकाशस्तम्भ का कार्य करता रहेगा।

षष्ठ अध्याय

किरातार्जुनीयम् के उपजीव्य काव्य के रूप में महाभारत

संसार के प्रत्येक साहित्य में प्रतिभाशाली कवियों की लेखनी से प्रसूत कतिपय ऐसे मर्मस्पर्शी काव्य हुआ करते हैं जिनसे स्फूर्ति तथा प्रेरणा लेकर अवान्तरकालीन कविगण अपने काव्यों को सजाया करते हैं। ऐसे काव्यों को हम व्यापक प्रभाव सम्पन्न होने के हेतु 'उपजीव्य काव्य' के नाम से पुकार सकते हैं। इन काव्यों की उपजीव्यता से तात्पर्य इनका अन्य उत्तरकालीन काव्यों को इतिवृत्तादि के द्वारा आश्रय प्रदान करना ही है।

संस्कृत साहित्य में भी ऐसे 'उपजीव्य काव्य' विद्यमान हैं जिनसे संस्कृत भाषा तथा अर्वाचीन प्रान्तीय भाषाओं के कवियों ने अपने विषय के निर्देश के लिए तथा काव्य शैली के विमल विधान के निमित्त सतत उत्साह तथा अश्रान्त स्फूर्ति ग्रहण की है तथा आज भी वे कर रहे हैं। ऐसे उपजीव्य काव्यों के उदाहरण के रूप में रामायण तथा महाभारत आदि का नाम लिया जा सकता है।

उपजीव्य काव्य के रूप में महाभारत अवान्तरकालीन काव्यों और नाटकों को विषय निर्देश देने में अक्षुण्ण स्रोत रहा है। जहां एक ओर कालिदास जैसे भावपक्ष प्रधान महाकवि ने अपनी अमूल्य कृति 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के प्रेरणा स्रोत के रूप में महाभारत को स्वीकार किया है वहीं कलापक्षप्रिय भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष आदि महाकवियों ने अपनी रचनाओं (किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम्, नैषधीयचरितम्) का आधार बनाया है। महाभारत सचमुच विचाररत्नों का एक अगाध महार्णव है जिसमें गोता लगाने वाला कवि आज भी अपने काव्य को चमत्कृत तथा अलंकृत बनाने के लिए नवीन जगमगाते हीरों को खोज निकालता है।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है किरातार्जुनीयम् की कथा का मूलस्रोत महाभारत रहा है। किरातार्जुनीयम् का प्रेरणास्थल महाभारत के वनपर्व का सत्ताइसवें अध्याय से लेकर इकतालिसवें अध्याय तक का कथांश है। महाभारत का यह कथांश छोटे छोटे अनुष्टुप् छन्दों में ग्रथित है जो कि संख्या में ७२२ हैं। महाभारत के इस संक्षिप्त कथानक को भारवि ने अठारह सर्ग वाले महाकाव्य के विस्तृत वितान में मालिनी, उपेन्द्रवज्रा जैसे बृहत् छन्दों के द्वारा १०३० श्लोकों में उपनिबद्ध (उपबृंहण) किया। कथानक का यह विशाल विस्तरणीकरण महाकाव्य के लक्षणों के सर्वथा उपयुक्त तथा अपेक्षित ही था।

भारवि ने महाभारत की इस कथावस्तु में विस्तार के साथ साथ यथा-स्थान रसयोजना के औचित्य से परिवर्तन भी किया है। उदाहरणस्वरूप चतुर्थ सर्ग से लेकर एकादश सर्ग तक के कथानक की कल्पना भारवि के स्वयं के मस्तिष्क की उपज है जो कि किरातार्जुनीय के अंग रस शृंगार के परिपोष के लिए अत्यावश्यक भी था। भारवि का यह कथानक में परिवर्तन सर्वथा शास्त्रसम्मत ही है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में प्रतिपादित किया है:

इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः॥

(ध्व० लो० ३.११)

अर्थात् कवि को इतिवृत्त (ऐतिहासिक क्रम) से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल कथांशादि को छोड़कर बीच में अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करके कथा का संस्करण कर लेना चाहिए।

इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए वृत्ति भाग में कहते हैं:

"इदमपरं प्रबन्धस्य रसाभिव्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। इतिवृत्तवशायातां...... इतिहासादेव तत्प्रसिद्धेः।"

(ध्व० लो०: आ० विश्वेश्वर)

महाभारत से कथानक निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होता है:

महाभारत में पांडवों का पारस्परिक वादविवाद केवल उनकी 'निराशापूर्ण स्थिति के कारण ही प्रारम्भ होता है। इसमें प्रारम्भ में द्रौपदी अपनी तथा पांचों पतियों की दयनीय दशा देखकर युधिष्ठिर को युद्ध के लिए प्रेरित करने के लिए उत्तेजनापूर्ण वचन कहती है। युधिष्ठिर उसका प्रतिवाद करते हैं। द्रौपदी पुनः पुनः युद्ध के समर्थन में लम्बे-लम्बे भाषण करती है और युधिष्ठिर उनका बार बार खंडन करते हैं। इस वादविवाद में भीम भी भाग लेते हैं और द्रौपदी के पक्ष का समर्थन करते हैं। यह कथोपकथन सप्तविंश अध्याय से लेकर षट्त्रिंश अध्याय तक चलता रहता है जो कि व्यास जी के आगमन से समाप्त होता है। व्यास जी पांडवों को द्वैतवन छोड़कर काम्यक वन जाने की तथा अर्जुन को पाशुपतास्त्र प्राप्त करने की सम्मति देते हैं। सप्तत्रिंश अध्याय में अर्जुन का भाई आदि से मिलकर इन्द्रकील पर्वत के लिए प्रस्थान और इन्द्र का दर्शन प्राप्त करना वर्णित है। अष्टात्रिंश अध्याय में अर्जुन इन्द्र के आदेशानुसार शिव को प्रसन्न करने के लिए कठोर तप करते हैं। ऋषि लोग अर्जुन की तपस्या के विषय में शिव से कहते हैं। एकोनचत्वारिंश अध्याय में भगवान शंकर अर्जुन की परीक्षा लेने के लिए किरात वेष धारण करके अर्जुन से युद्ध करते हैं एवं उनकी वीरता से प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं तथा अर्जुन स्तुति करते हैं।

चत्वारिंश अध्याय में भगवान शिव अर्जुन को पाशुपतास्त्र प्रदान कर अन्तर्धान हो जाते हैं। एकचत्वारिंश अध्याय में अन्य देवताओं द्वारा भी दिव्यास्त्रों के प्रदान का उल्लेख किया गया है।

महाकवि भारवि ने महाभारत के इस नीरस तथा शुष्क कथानक में यथा स्थान परिवर्तन कर उसे सरस और सहृदयहृदयावर्जक बना दिया है जैसे कि :

(१) भारवि किरातार्जुनीय का आरम्भ वनेचर के आगमन से प्रारम्भ करते हैं जिसको पाण्डवों ने दुर्योधन की शासन-व्यवस्था को जानने के लिए गुप्तचर के रूप में भेजा था। यह भारवि की नितान्त मौलिक कल्पना है।

(२) भारवि ने पाण्डवों के काम्यक वनगमन का उल्लेख नहीं किया। इसको पूर्णरूपेण छोड़ दिया।

(३) भारवि ने यक्ष की कल्पना की है जो कि महाभारत में नहीं है।

(४) किरातार्जुनीय के चतुर्थ सर्ग से लेकर एकादश सर्ग तक का कथानक भारवि के अपने मस्तिष्क की उपज है।

(५) प्रमथगणों का वर्णन, स्कन्द के नेतृत्व में अर्जुन से उनका युद्ध और मायावी शस्त्रों से संग्राम की सम्पूर्ण घटना कवि की कल्पना का परिणाम है।

कथावस्तु की दृष्टि से ही नहीं अपितु पात्रों के चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी किरातार्जुनीयम् की महाभारत से विशिष्टता है। वैसे तो भारवि के पात्रों का चरित्र-चित्रण की दृष्टि से विवेचन "भारवि का अर्थगौरव" नामक अग्रिम अध्याय में किया जायेगा, किन्तु महाभारत के पात्रों से तुलना की दृष्टि से प्रस्तुत स्थल में भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। महाभारत के यक्ष, स्वार्थी तथा दम्भी पात्र भारवि के हाथों में पड़कर मर्यादित तथा सुसंस्कृत हो जाते हैं। महाभारत के पात्र जहाँ उच्छृङ्खल हैं, परस्पर कटूक्तियों का व्यवहार करते हैं वहीं भारवि के पात्र मर्यादित, नियन्त्रित, सुसंस्कृत तथा शिष्ट हैं। वे अपने पक्ष का मण्डन बड़े तर्क से करते हैं तथा विपक्षियों के कथन का खण्डन भी करते हैं किन्तु उनमें उद्वेग नहीं लक्षित होता है।

महाभारत की द्रौपदी अपने भोग, वैभव तथा ऐश्वर्यादि को ही स्मृत करके अधिक पीड़ित होती है :

या त्वाहं चन्दनादिग्धमपश्यं सूर्यवर्चसम्।
सा त्वां पङ्कमलादिग्धं दृष्ट्वा मुह्यामि भारत ॥ १४ ॥
या त्वाहं कौशिकैर्वस्त्रैः शुभ्रैराच्छादितं पुरा।
दृष्टवत्यास्मि राजेन्द्र सा त्वां पश्यामि चीरिणम् ॥ १५ ॥

(महाभारत वनपर्व, अध्याय २७)

जब कि भारवि की द्रौपदी को शत्रुकृत अपमान की ही अधिक चिन्ता है :

द्विषन्निमिता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोप्युत्सव एव मानिनाम् ॥
(किरात० सर्ग १, श्लोक ४१)

महाभारत की द्रौपदी युधिष्ठिर को युद्ध के लिए उत्तेजित करते-करते उनके क्षत्रियत्व के विषय में ही शंका करने लगती है :

न निर्मन्युः क्षत्रियोस्ति लोके निर्वचनं स्मृतम्।
तदद्य त्वयि पश्यामि क्षत्रिये विपरीतवत् ॥ ३१ ॥
(महाभारत, वनपर्व २७ वां अध्याय)

महाभारत के भीम उच्छृङ्खल और अमर्यादित हैं। वे अपने लोगों पर आई विपत्ति के विषय में युधिष्ठिर पर दोषारोपण करते हुए कहते हैं :

भवतोऽनवधानेन राज्यं नः पश्यतां हृतम्।
अहार्यमपि शक्रेण गुप्तं गाण्डीवधन्वना ॥ ६ ॥
कुणीनामिव बिल्वानि पङ्गूनामिव धेनवः।
क्षतमैश्वर्यमस्माकं जीवतां भवतः कृते ॥ ७ ॥
(३३ वां अध्याय)

उपर्युक्त श्लोकों में 'भवतोनवधानेन' तथा 'भवतः कृते' अर्थात् आपकी असावधानी से (आपकी वजह से) जैसे शब्दों से भीम का युधिष्ठिर के प्रति क्रोध और अशिष्टता स्पष्ट है। भीम का यह उद्वेग यहीं समाप्त नहीं होता है, वह सभ्यता और शिष्टता की सम्पूर्ण मर्यादाओं को पार करता हुआ भीम को अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर के लिए नपुंसक तक कहने को बाध्य कर सकता है :

भवान् धर्मो धर्म इति सततं परिकीर्तितः।
कच्चिद् राजन् न निर्वेदादापन्नः क्लीबजीविकाम् ॥ १३ ॥
(३३ अध्याय)

वही भीम भारवि के हाथों में पड़कर अत्यन्त शिष्ट और नम्र हो जाते हैं :

द्विषता विहितं त्वयाथवा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम्।
जननाथ ! तवानुजन्मनां कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ॥ १७ ॥
(द्वितीय सर्ग)

महाभारत में युधिष्ठिर भी उतने संयत और शान्त नहीं हैं जितने किरातार्जुनीयम् में। भीम के आक्षेपों का उत्तर देते समय उनके स्वर में भी कम कटुता नहीं है :

असंशयं भारत सत्यमेतत्, यन्मां तुदन् वाक्यशल्यैः क्षिणोषि ।
न त्वां विगर्हे प्रतिकूलमेव, ममानयाद्धि व्यसनं व आगात् ।।२।।
(चौतीसवां अध्याय, वनपर्व)

यही नहीं, वे भीम पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि तुम अपना पुरुषार्थ तो जानते ही थे। जब मैं पूर्वोक्त प्रकार की प्रतिज्ञा करने लगा उससे पहले ही तुमने ऐसी बातें क्यों नहीं कहीं ? जब प्रतिज्ञा के अनुसार वनवास का समय स्वीकार कर लिया तब पीछे इस समय मुझसे अत्यन्त कठोर बातें क्यों कहते हो ?

प्रागेव चैवं समयक्रियायाः किं नाब्रवीः पौरुषमाविदानः ।
प्राप्तं तु कालं त्वभिपद्य पश्चात् किं मामिदानीमतिवेलमात्थ ।। १७ ।।
(चौतीसवां अध्याय, वनपर्व)

विवेचन के आधार यह कहा जा सकता है कि भारवि ने महाभारत के नीरस, निर्जीव तथा अस्थिपञ्जर के सदृश कथानक को लेकर अपनी नवोनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा से सुस्निग्ध तथा मांसल बना कर उसमें प्राणों का सञ्चार कर दिया ।

सप्तम अध्याय

'किरातार्जुनीयम्' एक महाकाव्य के रूप में

संस्कृत साहित्य में शास्त्रीय दृष्टि से काव्यों का विभाजन विविध रूप में किया गया है जैसे मुक्तक, सन्दानितक, पर्यायबन्ध, सर्गबन्ध तथा महाकाव्यादि ।[1] विभिन्न आलंकारिकों ने अपने ग्रंथों में इनका विशिष्ट रूप से विवेचन किया। भारवि के इस काव्य ग्रन्थ में महाकाव्य के समस्त लक्षण संघटित होते हैं। आचार्य दण्डी के अनुसार महाकाव्य[2] को विभिन्न सर्गों में विभाजित होना चाहिए। उसका प्रारम्भ आशीर्वाद या नमस्कारादि रूप मंगल से होता है। इसमें कथावस्तु ऐतिहासिक या उत्पाद्य (कवि कल्पित) दोनों ही हो सकती है। पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि को लक्ष्य में रखते हुए चातुर्य्य विशिष्ट उदात्त नायक का आश्रय लेना अनिवार्य होता है। रसोन्मीलन के हेतु नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय और चन्द्रोदय, उद्यान, जलकेलि, मधुपान और रतोत्सवों का भी वर्णन होता है। साथ ही विप्रलम्भ श्रृंगार, विवाह, कुमारोदय (बाललीला) से इसे सुसज्जित होना चाहिए। इसमें मन्त्रणा, दूत प्रेषण, विजय यात्रा, युद्ध वर्णन आदि द्वारा नायक का अभ्युदय दिखाया जाता है। इसे विविध अलंकारों से अलंकृत, रसभाव से सम्पन्न तथा अति विस्तीर्ण होना चाहिए। इसके प्रत्येक सर्ग (जो अति विस्तीर्ण न हो) के अन्त में वृत्त का परिवर्तन आवश्यक है साथ ही यह भी आवश्यक है कि यह चिरस्थायी हो अर्थात् केवल सामयिक घटनाओं पर ही विशेष बल न दिया गया हो।

अठारह सर्गों से युक्त भारवि के इस काव्य-ग्रन्थ में इतिहास प्रसिद्ध पांडवों के कथानक का आश्रयण किया गया है। महाभारत में प्रसिद्ध अन्यतम वीर अर्जुन इसके प्रधान नायक हैं। इतिवृत्त का आरम्भ द्यूतक्रीड़ा में हारे हुए पांडवों के

---

१. काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धं, सन्दानितकविशेषककलापककुलकानि, पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकथासकलकथे, सर्गबन्धो, अभिनेयार्थ, आख्यायिकाकथे इत्येवमादयः। ध्व० लो० ३.७ (वृत्ति भाग)

आदिशब्देनाख्यानचम्पूसङ्घातकोषचक्रवालोदाहरणविरुदावलीभोगावलीतारावलीविश्वावलीरत्नावली-पञ्चाननावलीप्रभृतयो गृह्यन्ते...दीधिति।

ध्व० लो० पृ० २८३।

२. दण्डीकृत काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद १४...१९

द्वैतवनवास से होता है। युधिष्ठिर यहां रहकर भी दुर्योधन की ओर से निश्चिन्त नहीं हैं। वे एक वनेचर को दुर्योधन की प्रजापालनसम्बन्धी नीति को जानने के लिये 'चर' बनाकर भेजते हैं। ब्रह्मचारी बना हुआ वनेचर लौटकर आता है, और उसके युधिष्ठिर के पास पहुँचने के अनन्तर काव्य का इतिवृत्त चलता है। वनेचर दुर्योधन के शासन की पूरी जानकारी देता है और इस बात का संकेत देता है कि जुए के बहाने जीती हुई पृथ्वी को वह नीति से भी जीत लेने की चेष्टा में लगा है।[1] सारी बातें बताकर वनेचर लौट जाता है, और द्रौपदी आकर युधिष्ठिर को युद्ध के लिये उत्तेजित करती है। वह कटु शब्दों का प्रयोग करती हुई युधिष्ठिर की तपस्विजनोचित शान्ति, दूसरे शब्दों में कायरपन की भर्त्सना करती है। दूसरे सर्ग के आरम्भ में भीम द्रौपदी की सलाह की पुष्टि करता है, और युधिष्ठिर को इस बात का विश्वास दिलाता है कि उसके चारों भाइयों के आगे युद्ध में कोई नहीं ठहर सकता।[2] पर नीतिविशारद युधिष्ठिर एक कुशल हस्तिपक की तरह मदमस्त हाथी के समान भीम को नीतिमय उक्तियों से शान्त कर देते हैं।[3] वे इस बात का संकेत देते हैं कि उन्हें उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब पांडवों के मित्र पांडवों की सहिष्णुता की अत्यधिक प्रशंसा करने लगें तथा दुर्योधन के अभिमानी व्यवहार से अपमानित कई राजा, उससे अलग हो जायं। इसी सर्ग में भगवान व्यास आते हैं। तीसरे सर्ग में वे अर्जुन को दिव्यास्त्र प्राप्ति के लिये इन्द्र की तपस्या करने को कहते हैं। व्यास के भेजे गये गुह्यक के साथ अर्जुन तपस्यार्थ इन्द्रकील पर्वत पर पहुंचता है। उसकी कठिन तपस्या से डरकर इन्द्र अप्सराओं को अर्जुन की तपस्या भंग करने के लिये भेजता है। पर अर्जुन का व्रत भंग नहीं होता। खुश होकर स्वयं इन्द्र अर्जुन के पास आता है तथा शिव की तपस्या का उपदेश देता है। अर्जुन पुनः तपस्या करता है। इधर एक मायावी दैत्य अर्जुन को मारने के लिये सुअर का रूप धारण करता है। इस बात को जानकर भगवान् शिव अर्जुन की रक्षा के हेतु किरात का मायावी वेश धारण करते हैं। तेरहवें सर्ग में सुअर के प्रवेश का वर्णन है। किरात तथा अर्जुन दोनों सुअर पर एक साथ बाण छोड़ते हैं। अर्जुन का बाण सुअर को मारकर पृथ्वी में घुस जाता है। बाद में बचे हुए बाण के लिये किरात तथा अर्जुन का वादविवाद चलता है, जो पंचदश सर्ग में युद्ध का रूप धारण कर लेता है। युद्ध में पहले दोनों अस्त्रों

---

१. दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः ।। (१.७)

२. प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विषतां कः शतमन्युतेजसः ।। (२.२३)

३. उपसान्त्वयितुं महीपतिर्द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे ।। (२.२५)

से लड़ते हैं, बाद में कुश्ती पर उतर आते हैं। इसी समय अर्जुन की वीरता से प्रसन्न होकर भगवान् शिव प्रकट होते हैं, तथा अर्जुन की पाशुपतास्त्र-प्राप्ति की अभिलाषा के साथ काव्य की पूर्ति होती है।

व्रज जय रिपुलोकं पादपद्मानतः सन्,
गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसंघैः।
निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो,
धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम ॥ (१८.४८)

"जाओ, अपने शत्रुओं को जीतो' इस प्रकार शिव के द्वारा आशीर्वाद दिया गया अर्जुन, (जो उनके चरणकमलों में नत था) देवताओं के द्वारा प्रशंसित होकर महान् जयलक्ष्मी को धारण कर अपने घर लौट आया और उसने युधिष्ठिर को प्रणाम किया।"

इस प्रकार 'श्रीः' शब्द के मंगलाचरण से आरम्भ भारवि का 'श्रीकाव्य' लक्ष्मी शब्द की विजयशंसना के साथ परिसमाप्त होता है। भारवि का काव्य जैसे 'लक्ष्म्यन्त' काव्य कहलाता है, ठीक उसी तरह माघ का काव्य 'श्र्यन्त' तथा श्रीहर्ष का नैषध 'आनन्दान्त' है। भारवि ने मंगलसूचक 'लक्ष्मी' शब्द को प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में अवश्य रखा है, जो काव्य के तत्तत् पद्यों में देखा जा सकता है।

भारवि के किरातार्जुनीय का इतिवृत्त हम देख चुके हैं। यदि कोई कवि कोरी कथात्मकता को ही लेकर चलता, तो यह कठिनता से चार या पांच सर्ग की सामग्री सिद्ध होती। पर भारवि के कलावादी कवि ने बीच बीच में अद्भुत संवाद, रमणीय कल्पनापूर्ण वर्णन आदि का समन्वय कर इसके 'केन्वेस' (फलक) को बढ़ा दिया है। चौथा और पांचवां सर्ग पूरे के पूरे शरद्वर्णन और हिमालय-वर्णन से भरे पड़े हैं, तो सातवें, आठवें, नवें और दसवें सर्ग में अप्सराविहार तथा अर्जुन के तपस्याभंग की चेष्टा का वर्णन है। ग्यारहवें सर्ग में जाकर पुनः कवि ने इतिवृत्त के सूत्र को पकड़ा है, और वह अतीव मन्थर गति से कथा की ओर बढ़ता है। किरातार्जुनीय के कथा तत्व की प्रवाहावरोधकता के विषय में आगे संकेत किया जायगा।

शास्त्रीय दृष्टि से किरात का नायक धीरोदात्त अर्जुन तथा मुख्य रस वीर है। अप्सराविहारादि वाला शृंगार इसी वीर रस का अंग बन कर आता है। महाकाव्यों की रूढ परिभाषा की नजर से देखने पर इसमें १८ सर्ग हैं, तथा छहों ऋतु, सूर्योदय, सूर्यास्त, पर्वत, नदी, जलक्रीडा, सुरत आदि का वर्णन पाया

जाता है, और इस तरह दंडी तथा विश्वनाथ के द्वारा संकेतित महाकाव्य के सभी लक्षण[1] देखे जा सकते हैं।

स्वयंकृत घंटापथ टीका के द्वारा सम्पूर्ण किरातार्जुनीयम् महाकाव्य का मन्थन करके साररूप में प्राप्त मल्लिनाथ की निम्नलिखित उक्ति द्रष्टव्य है :

नेता मध्यमपांडवो भगवतो नारायणस्यांशजः,
तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः।
शृंगारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः,
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्॥

यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध महाकाव्यों में अन्यतम है। इसे महाकाव्यों की बृहत्त्रयी में प्रथम स्थान प्राप्त है। महाकवि कालिदास की कृतियों के अनन्तर संस्कृत साहित्य में भारवि के किरातार्जुनीय का ही स्थान है। यद्यपि कालिदासकृत रघुवंश महाकाव्य सर्ग आदि की दृष्टि से किरातार्जुनीय से लघुकाय ग्रन्थ नहीं है, तथापि उसे बृहत्त्रयी में स्थान नहीं दिया गया है। कदाचित् इसका कारण यही है कि काव्यकला के शिल्प-विधान की दृष्टि से किरातार्जुनीय रघुवंश महाकाव्य से उत्कृष्ट एवं ओजपूर्ण है। एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि समस्त संस्कृत साहित्य में किरातार्जुनीय के समान सरल, कोमलकान्त गेय, पदावली विमंडित, काव्य के सम्पूर्ण शास्त्रीय लक्षणों से समन्वित ओजस्वी महाकाव्य दूसरा नहीं है। बृहत्त्रयी के दूसरे महाकाव्य शिशुपालवध की भांति इसमें न तो जटिल एवं कर्णकटु शब्दों की भरमार है और न नैषध की भांति क्लिष्ट कल्पनाओं का विकट घटाटोप है। छोटे छोटे समस्त पदों की सुललित कर्णप्रिय ध्वनि से गूंजते हुए मनोहर अर्थगौरव से विभूषित किरातार्जुनीय के सैकड़ों श्लोक अथवा श्लोकार्ध संस्कृतप्रेमी समाज के आज भी कंठहार बने हुए हैं। सम्भवतः लोकप्रियता में भी किरातार्जुनीय का स्थान मेघदूत एवं कुमारसम्भव के बाद ही आता है। काव्यरसास्वादन करने वाले सहृदयजनों के लिए तो यह एक मनोहर काव्यग्रन्थ है।

प्राचीन काव्यप्रेमी पंडितों की मान्यता के अनुसार कालिदास, भारवि, माघ और दंडी के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध तुलनात्मक सम्मति इस प्रकार है :

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दंडिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

अर्थात् उपमा में कालिदास, अर्थगौरव में भारवि, पदलालित्य में दण्डी तथा

१. महाकाव्य के इन लक्षणों के लिये देखिये दण्डी का काव्यादर्श।
(१,१४...२२.)

इन तीनों दृष्टियों से श्रेष्ठ कवि माघ हैं। माघ के प्रति प्राचीन पंडितों की यह सम्मति अनेक आलोचकों की दृष्टि से पक्षपातपूर्ण है, क्योंकि उन्हें कालिदास की मनोहारिणी उपमाओं एवं भारवि की अर्थगौरव से भरी ललित पदावली का दर्शन माघ की रचना शिशुपालवध में बहुत कम मिलता है। यह प्रसंग किसी विवाद में पड़ने का नहीं है किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्राचीन पंडितों की इस तुलनात्मक पद्धति में उनके पांडित्यपूर्ण समालोचक का अहंभाव ही अधिक मुखरित है। माघ में काव्य रसास्वादन की सहृदयता कालिदास एवं भारवि के महाकाव्यों की अपेक्षा निर्बल है, यद्यपि माघ की प्रखर प्रचंड काव्य प्रतिभा एवं असाधारण वैदुष्य की छटा ऐसी है कि सहसा कोई भी पंडितमानी उन्हें सर्वश्रेष्ठ मानने से रुक नहीं सकता है। यह सत्य है कि इतना असाधारण काव्यशिल्पविधान किसी अन्य महाकाव्य में सुलभ नहीं है किन्तु कविताकान्त कालिदास की निसर्ग मनोहारिणी उपमाएं एवं स्वल्प सुललित शब्दों में विपुल अर्थगाम्भीर्य तथा काव्यकलामाधुरी से बोझिल महाकवि भारवि की रचना-चातुरी की तुलना सचमुच माघ की रचना में दुर्लभ है। स्वयं महाकवि माघ ने भारवि की न केवल कथापद्धति एवं रचनाशैली को ही अपना आदर्श अथवा उपजीव्य बनाया है, वरन् कहना तो यह चाहिए कि माघ के शिशुपालवध की अधिकांश सामग्री किरातार्जुनीय को सामने रखकर ही प्रणीत ज्ञात होती है। इन सभी बातों में विचार करने पर भारवि संस्कृत के अन्यान्य महाकवियों में अग्रणी दिखाई पड़ते हैं। किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर लिखा है :

विमर्दव्यक्तसौरभ्या भारती भारवेः कवेः।
धत्ते वकुलमालेव विदग्धानां चमत्क्रियाम्॥

अष्टम अध्याय

भारवि का अर्थगौरव

भारवि का अर्थगौरव शताब्दियों से प्रसिद्ध रहा है। बहुत बात को थोड़े में कहना ही अर्थगौरव है। दूसरे शब्दों में इसे गागर में सागर भरना कहा जा सकता है। इसके लिये सर्वोत्तम साधन है अर्थान्तरन्यास। यही कारण है कि भारवि ने अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का बहुत अधिक सहारा लिया है। किरातार्जुनीय के १०३० श्लोकों में से ११५ के लगभग अर्थान्तरन्यास अलङ्कार से युक्त हैं।

अर्थगौरव को पाश्चात्य देशों में भी बहुत बड़ा गुण माना जाता है। शेक्सपियर का कहना है :

Since bravity is the soul of wit,
And tediousness the limbs and outward flourishes,
I will be brief. Shakespeare, Hamlet II-2.

भारतवर्ष में भी दर्शन और धर्म अनादिकाल से अल्पभाषण अथवा सारयुक्त भाषण के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते रहे हैं। सम्भवतः अर्थगौरव का मूल इसी में छिपा है। अतएव काव्य के सम्बन्ध में भी यदि भारवि की मान्यता यही है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं :

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥

अर्थात् "स्पष्ट वर्णरूपी आभरणों से मनोहर, सुनने में कानों को सुख देने वाली, सहज प्रसाद गुण पूर्ण एवं अर्थों से युक्त पदों से समलंकृत वाणी, (सुन्दर पत्नी की भाँति) यथेष्ट पुण्य न करनेवालों को नहीं प्राप्त होती है।" एक दूसरे स्थल पर भी इन्होंने काव्य-सम्बन्धी अपनी मान्यता प्रकट की है। भीम के भाषण की प्रशंसा युधिष्ठिर के द्वारा कराते हुए वे कहते हैं :

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥

इस श्लोक में भी उक्त मत का ही कवि ने प्रकारान्तर से प्रतिपादन किया है। समूचे किरातार्जुनीय में कवि की इन्हीं मान्यताओं के उदाहरण देखे जा सकते हैं तथापि दो एक उदाहरण देना अनुचित न होगा। स्फुटता का उदाहरण देखिए :

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः ।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥

अर्थात् "प्रणाम करके राजा युधिष्ठिर से शत्रु द्वारा जीती गई पृथ्वी के सम्बन्ध में निवेदन करनेवाले उस (दूत) का मन दोलायमान नहीं हुआ, क्योंकि हितैषी लोग झूठी प्रिय बात कहने की चेष्टा नहीं करते हैं।" इसी प्रसंग में दुर्योधन के कार्यकलाप की प्रशंसा करते हुए कवि ने कहा है :

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः,
कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम् ।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते,
नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥

अर्थात् "उसने कभी भी प्रत्यंचा चढ़े हुए धनुष को मारने के लिए नहीं उठाया, कभी भी उसने अपने चेहरे को क्रोध से विकृत नहीं किया, उसके गुणों के प्रति अनुराग के कारण ही नृपतिगण उसकी आज्ञा को माला की भांति सिर पर धारण करते हैं।"

अर्थगौरव की इससे अधिक और क्या सफलता होगी कि किरातार्जुनीय महाकाव्य के समस्त निष्कर्ष को उन्होंने एक छोटे से श्लोक में निबद्ध कर गागर में सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ कर दिया :

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः ।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः ॥

अर्थात् "ऐश्वर्य की कामना करने वाले बुद्धिमान पुरुष को शत्रुओं का क्षयोन्मुख उत्कर्ष सह्य होता है किन्तु अभ्युदयोन्मुख विनाश सह्य नहीं। अर्थात् किसी भी स्थिति में शत्रु के अभ्युदय की स्थिति अपना कल्याण चाहने वाले को सहन नहीं करनी चाहिये।

उद्देश्य की सफलता के लिए भारवि ने जिस साधन को अपने महाकाव्य में अभिव्यक्त किया है कुछ शब्दों में ही उसकी चर्चा कितनी सराहनीय हो उठी है :

शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम् ।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः ॥

अर्थात् विजयाभिलाषी पुरुष क्रोध का त्याग कर उत्तर काल में सुख देने वाली गौरवपूर्ण कार्यसिद्धि को ध्यान में रखकर अपने पुरुषार्थ को अच्छे अच्छे उपायों से संयुक्त करते हैं क्योंकि निश्चित फल वाले कार्य स्वयमेव प्रसिद्धि के कारण बनते हैं।

भारवि के अर्थगौरव को देखकर यह न सोचना चाहिये कि उनके कार्य में

शब्द-सौंदर्य का अभाव होगा। कविता के प्रति लोकरुचि के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए एक अवसर पर भारवि ने अपना यह आदर्श भी प्रकट किया है :

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभः सर्वमनोरमा गिरः॥

अर्थात् "कुछ लोग अर्थ सम्पत्ति की प्रशंसा करते हैं और कुछ केवल शब्दों की ही छटा को बखानते हैं। इस प्रकार प्रति पुरुष भिन्न भिन्न रुचि रहने के कारण ऐसी वाणी (कविता) बहुत ही दुर्लभ है जो सबको एक समान मनोहारिणी मालूम पड़ती हो अथवा जो अर्थगौरव एवं शब्द सौन्दर्य दोनों से ही समलंकृत हो।" किन्तु जहां तक भारवि की वाणी का प्रश्न है, अपने आदर्श के अनुकूल वह इन दोनों ही सद्गुणों से समलंकृत है। इसका परिचय तो उनके किरातार्जुनीय के किसी भी श्लोक से आसानी से मिल जाता है।

भारवि की भाषा उदात्त और हृदय को शीघ्र प्रभावित करने वाली है। वह कोमल भावों को प्रकट करने में उतनी ही सक्षम है जितनी उग्रभावों के प्रकाशन में। भाषा तथा शैली के सम्बन्ध में भारवि ने अपने आदर्श का संकेत "विविक्तवर्णाभरणा" इत्यादि प्रख्यात पद्य में किया है। भारवि की शैली का यही मर्म है। वह प्रसन्न होते हुये भी गम्भीर है। मित्र आलोचकों को प्रसन्न करने के साथ ही दुर्जन आलोचकों के हृदय को भी समान रूप से आवर्जित करती है। फलतः हम कह सकते हैं कि "प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती" भारवि की भाषा तथा शैली का द्योतक महनीय मैन्त्र है। इनकी कविता के पूर्ण परिचय ज्ञान के लिए कुछ उदाहरण देख लेना अनुचित न होगा :

"मृणालिनीनामनुरंजितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशंगितं द्रुतं धनुष्खंडमिवाहिविद्विषः॥"

अर्थात् "धान के खेतों में जल कितना सुन्दर मालूम पड़ता है। कमलिनी खिली है। कमल लता के हरे रंग के कारण जल भी हरा हो गया है। खेत में धानों की पकी पकी पीली शिखा (बालियां) सिरे पर हिल रही हैं, जिनसे जल भी पीला हो गया है। अतएव खेत का यह रंजित जल ऐसा मालूम पड़ता है मानो वृत्र के शत्रु इन्द्र महाराज का रंग-विरंगा धनुष, गलकर पानी के रूप में बह रहा हो।" एक और उदाहरण देखिए :

मुखैरसौ विद्रुमभंगलोहितैः
शिखाः पिशंगीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला
धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति॥

अर्थात् "शरद् का सुहावना समय है। शिरीष के फूल की तरह कोमल हरे

शुकों की पंक्ति मूंगे के टुकड़े के समान लाल लाल चोंचों में धान की पीली पीली बालियों को लिए हुए आकाश में उड़ी जा रही है। मालूम पड़ता है कि इन्द्रधनुष आकाश में उगा हो। सुग्गों का शरीर है हरा, चोंच है लाल, उन चोंचों में ली हुई धान की बालियाँ हैं पीली। इन रंगों की मिलावट क्या इन्द्रधनुष से कम सुहावनी जँचती है? भारवि ने शरद् के इस शोभन दृश्य को कितने सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। कल्पना की यह नवीनता तथा वर्णन की अत्यन्त स्वाभाविकता किस सहृदय के मानस को मंत्रमुग्ध किये बिना नहीं रहती ?

भारवि के काव्य में इस प्रकार के अनेक स्थलों को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि उनमें कवित्व का कितना अविरल स्रोत था और कितनी महान् थीं उनकी कल्पनायें। क्या शब्द-सौन्दर्य एवं क्या अर्थगौरव सब में उनकी समान गति थी। उनकी वाणी में थी हृदयग्राहिता। उनकी एक भी उक्ति यदि सहृदय हृदय में एक बार भी प्रवेश पा जाती है तो उसे सहज में दूर करना असम्भव हो जाता है।

उपर्युक्त विशेषताओं को देखते हुए इनके सम्बन्ध में कविवर कृष्ण की निम्नलिखित सूक्ति शत प्रतिशत ठीक ही प्रतीत होती है :

"प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या ॥"

भारवि का लोकदर्शन

भारवि का सांसारिक अनुभव उच्च कोटि का है, संसार के सुख-दुःख की इन्हें पूर्ण पहचान है, उनकी दृष्टि में मान, स्वात्माभिमान का बड़ा आदर है। द्रौपदी तथा भीम ने अपने सम्मान की रक्षा के लिए युधिष्ठिर को जिस प्रकार उत्साहित किया है वह मनन करने का विषय है। कवि की मान्यता में जितना स्थान गौरव का है उससे कहीं अधिक विनय का महत्त्व है। किरातार्जुनीय में जितने सम्भाषण मिलते हैं उनमें कहीं भी शिष्टाचार तथा विनय का उल्लङ्घन नहीं है। वे भिक्षा को अनुचित मानते हैं, इसे वह पण्डितों की मर्यादा को भंग करनेवाली बतलाते हैं "धिग् विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम्।" वे जानते हैं कि गुण प्रेम में रहते हैं वस्तु में नहीं "वसन्ति हि प्रेम्णि गुणाः न वस्तुषु।" सज्जनता के विशिष्ट गुणों का भी वे मर्म जानते हैं कि सज्जनों की वाणी निन्दा करना नहीं जानती "सतां हि वाणी गुणमेव भाषते।" सम्पत्ति की चञ्चलता उन्हें कभी नहीं भूलती, उनका कहना है कि लक्ष्मी शरद्कालीन बादलों की भाँति क्षणस्थायी है "शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छला श्रियः।"

भारवि के लोकदर्शन के सम्बन्ध में अधिक उदाहरण प्रस्तुत करना उचित न होगा क्योंकि भारवि के काव्य का प्रत्येक स्थल ही उद्धृत किया जा सकता है तथा इनके अर्थान्तरन्यास की समीक्षा के अवसर पर स्वतः स्पष्ट होगा।

भारवि का चरित्र-चित्रण

लोकदर्शन के पारखी भारवि ने अपने काव्यपात्रों के चित्रण में भी पूर्ण सफलता प्राप्त की है। इनके चरित्रों की अपनी विशेषतायें हैं। वे इतने सजीव, सहृदय, बुद्धिवादी, स्वाभिमानी और विदग्ध हैं कि महाभारत के चरित्रों से उत्कृष्ट बन गये हैं। महाभारत की द्रौपदी में अपमान की ज्वाला में जलती हुई अमन्द तेजस्विता नहीं आ सकी है और न महाभारत के अर्जुन में अपार कष्टसहिष्णुता, दुराराध्य तपशीलता तथा अप्रतिम वीरता ही आ सकी है, जो भारवि में पूर्ण विकास को प्राप्त है। यही दशा भारवि के युधिष्ठिर की है। यद्यपि युधिष्ठिर और भीम के व्यक्तित्व को कवि ने केवल संवादों के रूप में ही चित्रित किया है, तथापि भारवि के युधिष्ठिर शान्ति, न्यायपरायणता तथा अविचलता में ऐसे अद्वितीय बन गये हैं कि संस्कृत वाङ्मय में अन्यत्र उनकी ऐसी मनोरम झांकी नहीं मिलती। वक्तृत्वकला तथा लोकनीति का सुन्दर सामञ्जस्य इनके प्रत्येक पात्र में मिलता है। जब कोई पात्र बोलता है तो उस समय उसी की बातचीत में श्रेष्ठता एवं कर्त्तव्य का ध्यान होने लगता है। किन्तु ज्यों ही उसके मत के खण्डन का अवसर महाकवि को मिलता है उसकी (पूर्व पात्र की) वार्ता में निस्सार्थता प्रकट होने लगती है। महाकाव्य के आरम्भ में वटुभेषधारी किरात द्वारा दुर्योधन के शासन एवं राज्य-प्रबन्ध की चर्चा सुनाने के अनन्तर, द्रौपदी एवं भीमसेन ने धर्मराज युधिष्ठिर की गम्भीरता एवं नैतिकता की निन्दा करते हुए दुर्योधन पर तत्काल ही अभियान करने का जो युक्तिसङ्गत मत प्रकट किया है, वह अपने ढंग का अद्वितीय है। उसमें पूर्वापर सन्दर्भों की विशद विवेचना ही नहीं है अपितु देश काल एवं परिस्थिति के अनुरूप सब प्रकार का औचित्य भी दिखाई पड़ता है किन्तु धर्मराज युधिष्ठिर ज्यों-ज्यों उसका मधुर खण्डन करते हुए अपना मत व्यक्त करने लगते हैं त्यों-त्यों द्रौपदी एवं भीमसेन की सभी युक्तियाँ स्वतः निरस्त होने लगती हैं।

इसी प्रकार इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या निरत अर्जुन और देवराज इन्द्र के संवाद में भी वृद्ध ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र का यह कथन दर्शनीय है कि :

"यः करोति वधोदर्का निःश्रेयसकरीः क्रियाः।
ग्लानिदोषच्छिदः स्वच्छाः स मूढः पंकयत्यपः॥ ११.१९
मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः।

तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ॥" ११.२०

अर्थात् जो मनुष्य मोक्ष को देने वाली तपस्या आदि सत्क्रियाओं को हिंसामय ढंग से पूर्ण करता है वह प्यास को शान्त करने वाली निर्मल जलराशि को मलिन करने वाला मूर्ख है। क्योंकि हिंसा आदि अवगुणों के मूल 'अर्थ' और 'काम' हैं। इन्हीं के कारण मनुष्य हिंसा आदि दुष्कर्मों में लीन होता है। अतएव इनकी पुष्टि नहीं करनी चाहिए। यह दोनों 'अर्थ' और 'काम' तत्वज्ञान के ऐसे लुटेरे हैं जिनको दूर करने का कोई भी उपाय नहीं है इत्यादि।

उपर्युक्त कथन के उत्तर में अर्जुन के निम्नलिखित कुछ वाक्य युधिष्ठिर के वाक्यों के सदृश ही सारपूर्ण एवं ग्राह्य प्रतीत होते हैं :

धार्तराष्ट्रैः सह प्रीतिर्वैरमस्माश्वसूयत।
असन्मैत्री हि दोषाय कूलच्छायेव सेविता॥

अर्थात् धृतराष्ट्र की सन्तानों के साथ हम लोगों का प्रेमव्यवहार ही शत्रुता की उत्पत्ति का कारण है। क्योंकि दुष्टों की मित्रता नदी के तटप्रदेश की छाया के समान है जिसके सेवन से भयंकर अनर्थ होने की सम्भावना बनी रहती है।

तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते॥

अर्थात् तभी तक पुरुष लक्ष्मी का आश्रय बना रहता है, तभी तक उसका यश स्थिर रहता है, और तभी तक वह पुरुष है जब तक मान का परित्याग नहीं करता (जहां मान को छोड़ा कि गया)।

प्रमार्ष्टुमयशःपङ्कमिच्छेयं छद्मना कृतम्।
वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः ॥

अर्थात् यदि इच्छा है तो एक यह है कि शत्रुओं के द्वारा किये गये कपट व्यवहार से जो हम लोगों को कलंक का टीका लगा है वह विधवापन से सन्तप्त शत्रु-रमणियों के लोचन-जल से धुल जाये। इत्यादि अर्जुन के वचनों को सुनते ही हमारी सहानुभूति अर्जुन के लिए द्विगुणित हो उठती है। "उस समय दुराचारियों को उनके दुष्कर्मों का बदला अवश्य देना चाहिए"। यह भावना हमारे हृदय में इतनी प्रबल हो उठती है कि देवराज इन्द्र के पूर्वोक्त सभी तर्क और युक्तियां निस्सार दिखाई पड़ने लगती हैं।

इसी प्रकार का एक तीसरा प्रसंग भी उल्लेखनीय है। वराह के वध के अनन्तर बाण को उठाते हुए अर्जुन को रोककर शंकर से मैत्री का प्रस्ताव करता हुआ किरात सैनिक जब अपने पक्ष को उपस्थित करता है तो उस समय ऐसा मालूम पड़ता है कि उसके तर्कों को खंडित करने की शक्ति अर्जुन को कहां से

प्राप्त होगी ? किन्तु ज्यों ही अर्जुन अपना वक्तव्य प्रारम्भ करते हैं त्यों ही उनके कथन की अखंडनीयता पर पाठक चमत्कृत हो उठता है।

इन सभी संदर्भों में महाकवि ने अपनी वक्तृत्व प्रतिभा का अनुपम उदाहरण उपस्थित किया है। किसी भी विषय के पक्ष प्रतिपक्ष में कहने के लिए उनके पास अकाट्य युक्तियां थीं, अप्रतिम तर्क थे और सद्यःवादी को भी मूक बना देने की निर्मल प्रतिभा थी। जिस अवसर पर वह जो कुछ कहते या कहलाते हैं, उस अवसर पर वही समीचीन मालूम पड़ने लगता है। भारवि को इस निपुण वक्तृत्व कला के प्रति अतिशय अनुराग था। प्रस्तुत महाकाव्य के अनेक सन्दर्भों पर उन्होंने न केवल अच्छे वक्ता की प्रशंसा ही की है वरन् वक्तृत्व कला की सूक्ष्म विशेषताओं का रहस्योद्घाटन भी किया है।

भारवि काव्य में रस योजना

रस का महत्व अनादि काल से प्रतिपादित है। तैत्तिरीय उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है..."रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।" महामुनि भरत ने भी इस परम्परा का पालन करते हुए रस को ही नाट्य का आधारभूत तत्व कहा है :

"तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः। न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते॥" (नाट्यशास्त्र)

अग्निपुराण के निम्नलिखित कथन में भी हमको उपर्युक्त मत का ही समर्थन मिलता है : "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्"।

जिस प्रकार भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में रस को नाट्य का मूल तत्व माना गया है, उसी प्रकार काव्य (श्रव्य काव्य) के क्षेत्र में भी सारतत्व रस ही है, यह भी सर्वस्वीकृत है। इस सिद्धान्त का स्पष्टतया तर्कसंगत रूप से प्रतिपादन सर्वप्रथम आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक में परिलक्षित होता है। इसमें उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है :

"काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ ५॥
विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपंचचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः।"

यहां यद्यपि ध्वनि कहने से रस, अलंकार तथा वस्तु इन त्रिविध प्रधानतया अभिव्यक्त व्यंग्यों का ग्रहण होगा। तथापि रस के ही ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप होने से काव्य की आत्मा का स्थान उसी को प्राप्त हो पाता है। इस विषय को अत्यधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका में लिखा है :

"स एवेति प्रतीयमानमात्रेपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यं, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च । तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम् ।"

(ध्वन्यालोकलोचन)

वह रस ही काव्य का सार है । इसका प्रतिपादन आचार्य आनन्दवर्धन स्वयं भी करते हैं :

"किन्तु रूपकादेरलंकारवर्गस्य येयं व्यंजकत्वे रसादिविषये लक्षणा दिग्दर्शिता, तामनुसरन् स्वयं चान्यल्लक्षणमुत्प्रेक्षमाणो यद्यलक्ष्यक्रमप्रतिममनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः समाहितचेतास्तदा तस्यात्मलाभो भवति महीयानिति ॥ १९ ॥"

उन्होंने इसी बात को एक अन्य स्थल पर भी कहा है :

"प्रबन्धे चापि रस एवोपनिबध्यमानोऽर्थविशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णाति ।"

इस तत्व (रसध्वनि) के परम प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन से लगभग ४०० वर्ष पूर्व महाकवि भारवि ने इस रहस्य को हृदयंगम किया था और अपने महाकाव्य में व्यावहारिक रूप से इसे अभिव्यक्त किया है । जैसा कि प्रसिद्ध है, भारवि के महाकाव्य का प्रधान अंगीभूत रस वीर है तथा अंग रस के रूप में यथास्थल शृंगारादि रसों की योजना हुई है । सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से वीर रस भी कई प्रकार का माना जा सकता है, जैसे दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर :

"दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च ।
दयावीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधसम्मतम् ॥" (नाट्यशास्त्र)

महाकवि भारवि ने इन भेदों में से युद्धवीर को अपने काव्य का आधार बनाया है । युद्धवीर को भी साधनों के आधार पर दो प्रकार का कहा जा सकता है--(१) शस्त्रप्रधान, (२) बुद्धिप्रधान । महाकवि ने दोनों को समान रूप से स्वीकार करते हुए प्रधान नायक अर्जुन में शस्त्रप्रधान युद्धवीर तथा नायिका द्रौपदी में बुद्धिप्रधान युद्धवीर रस का परिपोषण किया है । महाकवि के इस विभाजन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे बुद्धिप्रधान युद्धवीर की अपेक्षा शस्त्रप्रधान युद्धवीर रस को काव्य में प्रधानतया प्रश्रय देते हैं । शस्त्रप्रधान युद्धवीर के उदाहरण के रूप में चौदहवें सर्ग के श्लोक संख्या १९,२०,१६ लिए जा सकते हैं ।[1] भारवि ने किरातार्जुनीय की नायिका द्रौपदी के

१. सम्बन्धित श्लोकों को परिशिष्ट में देखिए ।

बुद्धिकौशल और वाक्पाटव से युधिष्ठिर में भी युद्ध की भावना को जाग्रत करते हुए प्रधान नायक अर्जुन को युद्ध हेतु उद्यत करते हुए स्पष्ट रूप से उसे बुद्धि-प्रधान युद्धवीर का आश्रय स्वीकार किया है। इस प्रसंग में प्रथम सर्ग के ३३, ३८, ४१ और ४२ संख्या के श्लोक विशेष उल्लेखनीय हैं।[1]

इसी प्रकार काव्य का प्रथम पात्र वनेचर भी बुद्धिप्रधान युद्धवीर का आश्रय कहा जा सकता है जिसने दुर्योधनगत मनोभावों को युधिष्ठिर के समक्ष प्रकट करते हुए उन्हें अपना पौरुष प्रकट करने के लिए प्रेरित किया है। इसके उदाहरण के रूप में प्रथम सर्ग के ७, ८, २५ श्लोक देखे जा सकते हैं। प्रधान रस के अंग के रूप में शृङ्गारादि रस की योजना में भी भारवि उसी प्रकार पूर्ण सफल रहे हैं। सम्पूर्ण महाकाव्य में वीररस के आश्रयभूत अर्जुन के अडिग उत्साह के पोषण हेतु अप्सराओं की निम्नलिखित शृंगारिक चेष्टायें कितनी सहायक होती हैं :

न दलति निचये तथोत्पलानां न च विषमच्छदगुच्छयूथिकासु ।
अभिरतिमुपलेभिरे यथासां हरितनयावयवेषु लोचनानि ॥
(किरात० १०.३९)

अर्थात् "इन सुरसुन्दरियों के नेत्र जितना अर्जुन के अंग-प्रत्यंगों को देख कर प्रसन्न हुए उतना विकसित कमलों के समूह से तथा सप्तपर्ण के स्तबक और मालती से तृप्त न हुए।" तथा :

प्रकृतमनुससार नाभिनेयं प्रविकसदङ्गुलि पाणिपल्लवं वा।
प्रथममुपहितं विलासि चक्षुः सिततुरगे न चचाल नर्तकीनाम् ॥
(किरात० १०।४१)

अर्थात् उन नर्तकी अप्सराओं के विलास भरे नेत्र उस समय के अभिनय योग्य रस भावादि व्यंजक व्यापारों का अनुसरण नहीं कर सके। चंचल अंगुलियों वाले पाणिपल्लव भी अनुसरण नहीं कर सके। प्रत्युत हुआ यह कि प्रथम बार ही अर्जुन पर पड़ते ही वे नेत्र वहाँ से हिलने तक में समर्थ नहीं हुए।

इस प्रकार इस प्रसंग में वर्णित अप्सराओं की विविध शृङ्गार चेष्टाएँ शत्रु पर विजय प्राप्त करने की भावना से प्रेरित हैं अतएव तपस्या में संलग्न अर्जुन को कर्तव्य-पथ से विमुक्त न कर सकीं। इस प्रकरण में शृंगार रस का सम्यग्-गुन्मीलन काव्य के प्रधान रस वीर के परिपोष में बाधक नहीं होता है। अपितु विजय-प्राप्ति हेतु अर्जुन के उत्साह में दृढ़ता ही परिलक्षित होती है जिसके

१. सम्बन्धित श्लोकों को परिशिष्ट में देखिए।

फलस्वरूप उपर्युक्त शृङ्गारिक प्रकरण को भी वीररस का सहायक ही मानना उचित होगा ।

इसी प्रकार :

अलसपदमनोरमं प्रकृत्या जितकलहंसवधूर्गति प्रयातम् ।
स्थितमुरुजघनस्थलातिभारादुदितपरिश्रमजिह्मितेक्षणं वा ॥
(किरात० १०.६०)

भृशकुसुमशरेषुपातमोहादनवसितार्थपदाकुलोऽभिलापः ।
अधिकविततलोचनं वधूनामयुगपदुन्नमितभ्रु वीक्षितं च ॥
(किरात० १०.६१)

रुचिकरमपि नार्थवद्बभूव स्तिमितसमाधिशुचौ पृथातनूजे ।
ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः ॥
(किरात० १०.६२)

अर्थात् "सहज अलसाए हुए चरणों से हंसिनियों की गति को तिरस्कृत करने वाली उनकी मनोहर चाल, अत्यन्त विस्तृत जघनस्थलों के भार से थके हुए नेत्रों से उनका तिरछा देखना, किसी प्रकार खड़ा होना, कामदेव के तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से उत्पन्न मूर्च्छावस्था में प्रयुक्त होने के कारण (सुबन्त, तिङन्त आदि वाक्यों के अव्यक्त होने के कारण) अस्पष्ट इनका वार्तालाप, आश्चर्य अथवा भय से बहु विस्तृत नेत्र, बारी-बारी से भौहें ऊपर उठा-उठाकर उनका देखना आदि उन देवांगनाओं की चेष्टाएं बहुत मनोरम थीं, तथापि स्थिर समाधि में निरत एवं निर्विकार चित्त होने के कारण पवित्र अर्जुन (के हृदय) में उनका कोई परिणाम नहीं हुआ अर्थात् वे सब निरर्थक ही सिद्ध हुईं । सच है महान् पुरुषों के मन में जब तक अमर्ष की अग्नि धधकती रहती है तब तक सुख की अभिलाषा को अवसर नहीं मिलता ।" इत्यादि स्थलों में शृङ्गार रस अर्जुन के हृदय में विद्यमान लौकिक सुखों के प्रति निर्वेद को उन्मीलित करता है तथा वह निर्वेद भी अन्ततः विजयप्राप्ति हेतु अर्जुनगत उत्साह का मुख्यतः पोषक बना हुआ है । फलतः यहां शृंगार पोषित शान्त रस भी वीर रस का अंग बना हुआ है ।

इसी प्रकार :

वियति वेगपरिप्लुतमन्तरा समभिसृत्य रयेण कपिध्वजः ।
चरणयोश्चरणानमितक्षितिर्निजगृहे तिसृणां जयिनं पुराम् ॥
(किरात० १८.१२)

अर्थात् त्रिपुर विजेता शंकर भगवान के वेगपूर्वक उछल कर अन्तराल में पहुँच

कर नीचे की ओर आते समय भूमि को कम्पित करते हुए कपिध्वज (अर्जुन) ने शीघ्र ही पहुँच बीच मार्ग में ही उनके चरणों को पकड़ लिया। इस श्लोक में अद्भुत रस अर्जुनगत उत्साह का उन्मीलन करता है। अतएव यहाँ अद्भुत रस को वीर रस सहायक ही मानना चाहिए।

इस प्रकार भारवि ने अपने महाकाव्य में (रस की उपर्युक्त विविध प्रकार की योजना के द्वारा) वीर रस की चरम परिणति की है। नायक अर्जुनगत वीररस के स्थायी भाव उत्साह का वह रूप उन्मीलित किया है जिसके द्वारा वह अपने शक्तिशाली शत्रु दुर्योधन पर विजय प्राप्त कर सके।

रसयोजना के इस क्षेत्र में सहृदय पाठक के अन्तस्तल को आदि से अन्त तक एक अलौकिक विश्रान्ति की अनुभूति होती है और वह तल्लीन होकर ब्रह्मास्वाद सविध आनन्द का रसास्वादन करता है। भारवि के इस अद्भुत सामर्थ्य ने ही उन्हें संस्कृत-साहित्य के मूर्धन्य कवियों में ला बिठाया है।

भारवि काव्य में अलङ्कार योजना

काव्य-शास्त्र के प्रथम अलङ्कारवादी आचार्य भामह तथा उनके कुछ अनुयायियों ने अलंकारों को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है।[1] इनकी यह मान्यता अलङ्कार सर्वस्व के प्रणेता रुय्यक की वाणी में निष्कर्ष के रूप में इस प्रकार प्रस्फुटित हुई है :

"अलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतः ॥

(अलङ्कारसर्वस्व)

किन्तु काल के क्रम से यह धारणा धीरे-धीरे करके विगलित होती गई और साहित्यिक व्यक्ति काव्य के उस (रसादि) ध्वनिरूप आत्मभूत तत्त्व का साक्षात्कार करने में सफल हो सके जिसके विषय में लोगों की अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियां प्रचलित थीं। अतः रसध्वनि की दृष्टि से भारवि के कवित्व पर विचार[2] करने के साथ-साथ भामहादि अलंकारवादियों की दृष्टि से भी भारवि की कवित्व शक्ति पर विचार करना अनुचित न होगा। आलंकारिकोंने अलंकारों को दो वर्गों में विभाजित किया है—(१) शब्दालंकार और (२) अर्थालंकार। इनके अतिरिक्त विविध बन्ध भी अलंकारों के समान ही (कुछ आचार्यों की दृष्टि से वे भी एक अलंकार[3] हैं) काव्य के शोभाधायक तत्व के रूप में स्वीकार किए

१. काव्यालङ्कार (भामह), उद्धरण परिशिष्ट में देखिए।

२. रसयोजना प्रकरण देखिए।

३. (क) अलङ्कारसर्वस्व ३०···उद्धरण परिशिष्ट में देखिए।

गए हैं। यद्यपि कुछ परवर्ती आचार्यों ने चित्रादि बन्धों तथा यमकादि दुष्कर अलंकारों को रसोन्मीलन की दृष्टि से हेय बतलाया है किन्तु भारवि के जीवनकाल या उससे पूर्व की मान्यताएं इन्हें ग्राह्य ही मानती हैं।[1] अतएव उन मान्यताओं के आधार पर भी भारवि के महाकाव्य की समीक्षा करने पर वे किसी से पीछे नहीं रहते हैं। भारवि ने अपने महाकाव्य में जिन-जिन अलंकारों का प्रयोग किया है उन अलंकारों का पता भी भारवि के निकटवर्ती क्या ५-६ शताब्दी परवर्ती साहित्याचार्यों को भी न लग सका। उदाहरणार्थ भारवि के महाकाव्य किरातार्जुनीय में हमें लगभग तीन शब्दालंकार, साठ अर्थालंकार तथा सात चित्र (बन्ध[2] तथा एकाक्षर, द्व्यक्षरादि) मिलते हैं[3] जब कि अलंकार शास्त्र में हमें भामह और दण्डी में क्रमशः ३८ और ३७, उद्भट में ३१, रुद्रट में ४५, भोज में ५४ तथा मम्मट में कुल मिलाकर ६९ अलंकारों का पता चलता है।[4] केवल संख्या की दृष्टि से ही नहीं, सफलता की दृष्टि से भी महाकवि भारवि किसी से पीछे नहीं माने जा सकते हैं। उदाहरणार्थ भारवि का उपमा अलंकार[5] ही मौलिकता में उपमा सम्राट् कालिदास की उपमा से किसी अंश में कम नहीं कहा जा सकता है। किरातार्जुनीयम् में आई हुई बासठ से अधिक उपमाओं में हम इसे स्पष्टतः देख सकते हैं।[6] भारवि का उपमा से अधिक प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा है। इस अलंकार का प्रयोग उन्होंने लगभग शताधिक बार किया है। भारवि के स्वभाव और विश्वानुभूति की अभिव्यक्ति की दृष्टि से उनके अर्थान्तरन्यास सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। कालिदास के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य का कोई भी कवि अर्थान्तरन्यास में इनकी तुलना में नहीं आ सकता है। यद्यपि संख्या की दृष्टि से माघ भारवि से पीछे नहीं हैं, किन्तु उन पर भारवि का जो विशिष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है उसे देखते हुए[7] माघ

(ख) काव्यप्रकाश कारिका १२१···उद्धरण परिशिष्ट में देखिए।

(ग) ध्वन्यालोक ३।४३···उद्धरण परिशिष्ट में देखिए।

१. अग्निपुराण अध्याय ३४३ श्लोक ३२, उद्धरण परिशिष्ट में देखिए।

२. विविध बन्धों के चित्र परिशिष्ट में देखिए।

३. किरातार्जुनीय में प्रयुक्त अलङ्कारों की तालिका परिशिष्ट में देखिए।

४. संस्कृत-साहित्य का इतिहास पृष्ठ ९१, ९७ ले० कन्हैयालाल पोद्दार।

५. सर्ग १४, श्लोक ५२।

६. भारवि के उपमा अलङ्कारों के लिये परिशिष्ट देखिए।

७. माघ पर भारवि का प्रभाव के लिए "भारवि पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव और परवर्ती कवियों को उनकी देन" परिच्छेद देखिए।

को भी इनके समकक्ष रखना उपयुक्त न होगा। भारवि के महाकाव्य में विविध अलंकार स्वाभाविक रूप से उपस्थित प्रतीत होते हैं। वे प्रयत्नसाध्य नहीं हैं। वस्तुतः यही अलंकारों का अलंकारत्व भी है कि उनसे विषय का स्पष्टीकरण, रस का परिपोष और काव्य में चारुत्व की प्रतीति होती रहे।[1] एकाक्षर, द्वयक्षरादि कुछ बन्ध अवश्य इसके अपवाद हैं, किन्तु उन्हें हम महाकवि के दोष के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि तत्कालीन या पूर्ववर्ती कवियों और काव्यशास्त्रियों की मान्यता ही ऐसी थी जिसमें कि इन दुस्साध्य बन्धों को भी स्पष्ट रूप से सहृदयहृदयावर्जक स्वीकार किया गया है।[2] वह युग ही ऐसा था जब राजसभाओं या विद्वत्सभाओं में पांडित्य प्रदर्शन को अनिवार्य माना गया था, जिसके फलस्वरूप भारतीय दर्शनशास्त्र की मुख्यतः न्याय और वेदान्त की भाषा को दुरूह होना पड़ा और कालिदास जैसे रससिद्ध कवि को भी यमक योजना की ओर उन्मुख होना पड़ा[3] और जिसके फलस्वरूप कादम्बरी जैसे सरस काव्य को भी प्रोफेसर वेवर के शब्दों में एक बीहड़ जंगल सदृश बनना पड़ा। ऐसी स्थिति में भारवि द्वारा प्रयुक्त एकाक्षर, द्वयक्षरादि शब्दचित्रों तथा गोमूत्रिका, सर्वतोभद्रादि बन्धों को भी हम काव्य की दृष्टि से दोष नहीं मान सकते हैं अपितु यह उनकी महान् सफलता है क्योंकि हम देखते हैं कि अग्निपुराण में जिन विविध शब्दचित्रों की चर्चा की गई है, भारवि से पूर्व किसी कवि को उनके चित्रण में उतनी अधिक सफलता भी प्राप्त नहीं हो सकी है अथवा हम यह कह सकते हैं कि भारवि से पूर्व उपलब्ध काव्यों में हमें उनके दर्शन भी नहीं होते हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है भारवि के अलंकार निरन्तर ही रस परिपोष तथा विषयाभिव्यक्ति के लिए अनायास ही प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ कुछ विशेष स्थलों को देख लेना अनुचित न होगा :

विकसितकुसुमाधरं हसन्तीं कुरबकराजिवधूं विलोकयन्तम्।
ददृशुरिव सुराङ्गना निषण्णं सशरमनङ्गमशोकपल्लवेषु॥

(किरात० १०।३२)

अर्थात् (वसन्त ऋतु में) सुरबालाओं ने देखा कि मानो बाण धारण करके अशोक के किसलयों पर बैठा हुआ कामदेव, हंसती हुई कुरबक पंक्ति

१. ध्वन्यालोक २सरा उद्योत १६ वीं कारिका।

२. अग्निपुराण ३४३।३२ परिशिष्ट देखिए।

३. कालिदास की यमकादि योजना के लिए देखिये⋯घटकर्पर महाकाव्य तथा रघुवंश सर्ग, ९ व २८।

रूपिणी वधू को देख रहा हो। उस समय प्रफुल्लित पुष्प उस (कुरबकपंक्तिरूपिणी वधू) के हास्य में अधर का काम कर रहे थे।

यहां पर कवि वसन्त ऋतु में विकसित कुरबक तथा अशोक वृक्षों का वर्णन कर रहा है। किन्तु कुरबक पंक्ति में वधू तथा उसके कुसुमों में हास्य एवम् अशोक पल्लवों में शय्या इत्यादि की उत्प्रेक्षा करते हुए श्रृंगार का पूर्ण रूप उपस्थित किया है। यहां पर उत्प्रेक्षा के अभाव में प्रकृति में श्रृंगार रस का साक्षात्कार नहीं होता है। फलतः यहां उत्प्रेक्षा अलंकार श्रृंगार रस का पोषक ही है।

इसी प्रकार :

श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे नवनिहितेर्ष्यमिवावधूनयन्तो ।
मधुसुरभिणि षट्पदेन पुष्पे मुख इव शाललतावधूश्चुचुम्बे ॥

(किरात० १०।३४)

अर्थात् भ्रमर ने शाललता रूपिणी वधू के मुख सदृश पुष्पों का (प्रथम सम्मिलन होने के कारण) कृत्रिम कोप की प्रेरणा से इधर उधर हिलते होने पर भी चुम्बन किया। वे मुख पुष्प उच्छ्वास के कारण कम्पित पल्लवाधर से युक्त थे तथा मधुर (मदिरा तथा मकरन्द) से सुरभित थे।

कवि की दृष्टि में उस शालवृक्ष की शाखा ही वधू थी, पुष्प उसका मुख था, पल्लव उसके चंचल ओष्ठ थे, पुष्प का मकरन्द मदिरा थी, वायुवेग के कारण फूलों का हिलना ही उसके मुख की खींचातानी थी, मदिरा का पान करने वाले भ्रमर ही नायक थे। यहां पर प्रकृति-वर्णन के माध्यम से श्रृंगार रस का उन्मीलन उपमा द्वारा कितना स्पष्ट है। यदि यहां पल्लव में अधरोष्ठ, पुष्प में मुख तथा शाललता में वधू का साम्य उपस्थित न किया जाता तो श्रृंगारिक चित्र सम्भव न था। तदाश्रित श्रृंगार रस का परिपोष भी असम्भव ही था।

इसी प्रकार विभिन्न रसों के पोषण के लिए स्वभावतः सहायक के रूप में प्रयुक्त विविध अलंकारों के अनेक उदाहरण भारवि के काव्य में प्राप्त होते हैं।[1] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारवि के अलंकार बिना किसी पृथक् प्रयास के रसपरिपोषक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। एक ओर वहां इनसे चारुत्व का उत्कर्ष (शोभाधायक हेतु) हुआ तो दूसरी ओर विषय में स्पष्टता भी आई है। और वास्तव में इसी में अलंकारों की संज्ञा की सार्थकता भी है :

---

१. रसपरिपोषक विविध अलङ्कारों के उदाहरण परिशिष्ट में देखिए।

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥
(ध्वन्यालोक २।५ की वृत्ति)

भारवि-काव्य में छन्द योजना

महाकवि भारवि ने अपने महाकाव्य में पचीस छन्दों[१] का प्रयोग किया है। इनमें जहाँ उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, द्रुतविलम्बित तथा अनुष्टुप् आदि प्रचलित छन्द हैं वहीं मत्तमयूर, औपच्छन्दसिक, अपरवक्त्रादि अप्रचलित छन्द भी हैं। विभिन्न छन्दों के प्रयोग को देखते हुए पता चलता है कि भारवि का सर्वाधिक प्रिय छन्द है वंशस्थ। किरातार्जुनीयम् के तीन सर्ग (चतुर्थ, अष्टम और चतुर्दश) इसी छन्द में लिखे गए हैं। पन्द्रहवें सर्ग में भी दो श्लोक तथा अठारहवें में तीन श्लोक इस छन्द में प्राप्त हैं। इस प्रकार किरातार्जुनीय का लगभग छठा भाग इसी छन्द में निबद्ध है। वंशस्थ के अतिरिक्त उपजाति और अनुष्टुप् क्रमशः सर्वाधिक प्रयुक्त हुए हैं। इन छन्दों में क्रम से १४५ और १२६ श्लोक निबद्ध हैं। सम्मानित[२] छन्द के रूप में भारवि ने सर्वाधिक प्रयोग वसन्ततिलका तथा मालिनी का किया है। इन छन्दों का क्रमशः ११ वें और १० वें सर्ग में सत्ताइस व तेरह बार प्रयोग हुआ है। कुछ छन्द ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग भारवि ने एक बार से अधिक करना उपयुक्त नहीं समझा जैसे जलधरमाला, प्रभा, जलोद्धतगति, वंशपत्रपतित, मत्तमयूर तथा अपरवक्त्र। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि भारवि का छन्दज्ञान अगाध है।[३]

संख्या की दृष्टि से ही नहीं अपितु विषयवस्तु की दृष्टि से भी विविध छन्दों का उपयोग भारवि की सराहनीय विशेषता है। श्रृंगार के प्रकरण में पुष्पिताग्रा वस्तुतः वसन्त की पूर्णता में अपने नाम को सार्थक करता है। वीर रस के प्रकरण में वंशस्थ, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा तथा उपजाति (यह इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का सम्मिलित रूप होता है) छन्द किरातार्जुनीय के पात्रों को इन्द्र और उपेन्द्र के अमोघ शस्त्रों के सदृश दृढ़ और अडिग सिद्ध करने में सहायक बने हैं।

---

१. किरातार्जुनीयम् में प्रयुक्त विविध छन्दों की तालिका परिशिष्ट में देखिए।

२. महाकाव्य की परिभाषा के अनुसार सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन की दृष्टि से प्रयुक्त किए गए छन्दों को हमने भारवि के "सम्मानित छन्द" की संज्ञा दी है। महाकाव्य में छन्द प्रयोग सम्बन्धी व्यवस्था परिशिष्ट में देखिए।

३. किरातार्जुनीयम् में प्रयुक्त विविध छन्दों के लक्षण परिशिष्ट में देखिए।

महाकवि क्षेमेन्द्र भी वीर रस के लिए वंशस्थ छन्दों को सर्वाधिक उपयुक्त मानते हैं :

"षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते ।"

किरातार्जुनीयम् में वीर रस के वर्णन में उपनिबद्ध वंशस्थ छन्दों की उत्कृष्टता को देखकर क्षेमेन्द्र ने तो अपने ग्रन्थ 'सुवृत्ततिलकम्' में यहां तक कह डाला :

वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता ।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता ॥

अर्थात् राजच्छत्र के समान वंशस्थवृत्त में भी एक अद्‌भुत विचित्रता है जिसकी छाया ने भारवि की प्रतिभा को भी अत्यधिक समृद्ध बना दिया ।

विविध बन्धों तथा शब्दालंकारों के स्थल में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग भी भारवि के छन्दोवैदग्ध्य का ही परिचायक है। ऐसे अवसरों पर अनुष्टुप् छन्द का आश्रय लेकर मानो वे विकट बन्धों तथा दुष्कर शब्दालंकारों की दुरूहता को दूर करने का प्रयास करते हुए से दृष्टिगोचर होते हैं ।

इस प्रकार किरातार्जुनीयम् की छन्दयोजना की विशेषताओं पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि भारवि का न केवल छन्दज्ञान ही अगाध था अपितु उनमें प्रयोग का पाटव भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान था ।

भाग २

अर्थान्तरन्यास खण्ड

प्रथम अध्याय

किरातार्जुनीयम् में अर्थान्तरन्यास के उदाहरण और उनका प्रकार विवेचन

प्रस्तुत अध्याय में किरातार्जुनीयम् के अर्थान्तरन्यास-विशिष्ट श्लोकों पर विचार कर लेना अपेक्षित है। जैसा कि पूर्व अध्याय में स्पष्ट किया गया है, अर्थान्तरन्यास अलंकार दो प्रकार का होता है (१) सामान्यविशेषभावमूलक (२) कार्यकारणभावमूलक। समर्थन की भावना इन दोनों ही प्रकारों के मूल में समान रूप से विद्यमान रहती है। यह समर्थन भी दो ढंग से हो सकता है (१) साधर्म्य से, (२) वैधर्म्य से। भारवि के काव्य में इन सभी प्रकार के अर्थान्तरन्यास अलंकारों के उदाहरण मिलते हैं। अब यहां पर किरातार्जुनीय के प्रत्येक सर्ग के अर्थान्तरन्यास-विशिष्ट श्लोकों का क्रमशः विवेचन किया जा रहा है। स्पष्टता के लिए पहले इन श्लोकों का अर्थ, तत्पश्चात् उनमें किस प्रकार का अर्थान्तरन्यास अलंकार प्रयुक्त हुआ, इसका विश्लेषण किया जाएगा।

प्रथम सर्ग

श्लोक २ : "युधिष्ठिर के द्वारा नियुक्त किये हुये वनेचर ने वन में पांडवों के समीप आकर पहले तो उन्हें प्रणाम किया तदुपरान्त उसने शत्रु दुर्योधन के द्वारा जीती हुई पृथ्वी का सारा वृत्तान्त कहने का निश्चय किया। ऐसा करने में उसका मन किंचिन्मात्र भी मलिन नहीं हुआ। ठीक ही है, हितैषी जन ऐसी बात नहीं कहना चाहते जो मीठी होते हुए भी असत्य हो।"

यहां पर राजा से शत्रु के द्वारा विजित पृथ्वी का निवेदन करने में वनेचर के मन का व्यथित न होना विशेष बात है तथा उसका "न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः" इस सामान्य कथन से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन अर्थान्तरन्यास अलंकार है।[1]

श्लोक ४ : "अये महाराज! गुप्तचरों के द्वारा ही सब कुछ ज्ञान प्राप्त करने वाले स्वामिजन कभी भी अपने उन सेवकों के द्वारा वंचित नहीं किये जाने चाहिए जो कि नाना प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने में नियुक्त किये गये हैं। अतः मैं जो कुछ भी भला बुरा कहूँ उसे आप क्षमा कर दीजियेगा क्योंकि ऐसे वचन तो प्रायः दुर्लभ ही हैं जो हितकारी भी हों और मनोहर भी।"

---

१. संबंधित श्लोकों को परिशिष्ट में देखिए।

यहा पर "प्रिय अथवा अप्रिय बात का सहन करना" कार्य है तथा इसका "हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः" इस कारण रूप कथन से समर्थन होने के कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है (यहां पर हितकारी तथा मनोहर वचनों की दुर्लभता ही प्रिय तथा अप्रिय वचनों के सहन करने में कारण बनती है)।

श्लोक ५ : "वह मित्र क्या जो कि राजा को सम्मति नहीं देता है तथा वह स्वामी कैसे जो हितकारी व्यक्ति से बात को नहीं सुनता है क्योंकि हम लोग तो दूसरे के आधार पर समाचार का संग्रह करने वाले हैं। हम जैसे लोगों की वाणी तो आप लोगों को केवल प्रेरणा ही प्रदान करती है।"

यहां पर "करने योग्य प्रतिकार शीघ्र कीजिए" इस विशेष कथन का "परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः" इस सामान्य कथन से समर्थन होने के कारण सामान्य का विशेष से समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ३० : दुर्योधन के सम्पूर्ण वृत्तान्त को सुनकर द्रौपदी महाराज युधिष्ठिर को शान्ति नीति के परित्याग की सम्मति देती हुई कहती है "वे अविवेकी पुरुष सर्वदा अपमानित होते ही रहते हैं जो कपटी जनों के साथ कपट का व्यवहार नहीं करते हैं। क्योंकि धूर्त मनुष्य सरल चित्त व्यक्तियों के मन की बातों का पता लगाकर उन्हें उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं जिस प्रकार तीक्ष्ण धार वाले बाण कवच से न ढके हुए शरीर में प्रविष्ट होकर घातक बन जाते हैं।"

यहां पर "अविवेकी मनुष्यों का पराभूत होना" कार्य है तथा "धूर्तों का उनके अंतःकरण में प्रवेश करके सबल सिद्ध होना" कारण है। यहां पर कारण से कार्य का साधर्म्य के द्वारा समर्थन होता है इसलिये यह कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ३७ : भीम, अर्जुन तथा नकुल सहदेव आदि की दुर्दशा को देखकर भी युधिष्ठिर के मन में क्रोध नहीं उत्पन्न हुआ। अतः खिन्न होकर द्रौपदी युधिष्ठिर को प्रताड़ित करती हुई कहती है "आपके इन विचारों को मैं तो समझ ही नहीं पा रही हूँ क्योंकि मनुष्यों की चित्तवृत्तियां भी तो भिन्न भिन्न हुआ करती हैं। मेरा मन तो आपकी मानसिक चिंताओं को देख देखकर खिन्न होता रहता है।"

"युधिष्ठिर की चित्तवृत्ति को न समझ सकना" कार्य है तथा "चित्तवृत्तियों की विचित्रता" उसका कारण है। इसलिये यहां पर भी कार्य का कारण से साधर्म्य से समर्थन होने से कार्य कारण रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ४१ : युधिष्ठिर को दुर्योधन के साथ युद्ध करने के लिए उत्तेजित करती हुई द्रौपदी कहती है "आपकी यह वर्तमान दशा मुझे इसलिए व्यथित कर रही है क्योंकि इसका कारण शत्रु (दुर्योधन) ही है। जिनके पराक्रम को शत्रु लोग तिरस्कृत नहीं कर सकते हैं ऐसे स्वाभिमानी व्यक्तियों के लिए विपत्तियां भी उत्सव के समान हैं" (अर्थात् स्वाभिमानी लोग कठिन से कठिन विपत्तियों को सहर्ष झेल जाते हैं, परन्तु अपमान को सहन नहीं कर सकते हैं)।

यहां पर "आपकी दशा शत्रु के कारण से है, इसलिए मेरे मन में दुःख को उत्पन्न करती है" इस विशेष बात का "शत्रुओं से अतिरस्कृत स्वाभिमानी व्यक्तियों की आपत्ति भी उत्सव स्वरूप होती है" इस सामान्य कथन द्वारा साधर्म्य से समर्थन होने से सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ४२ : युधिष्ठिर को शान्ति का परित्याग कर युद्ध के लिए प्रेरित करती हुई द्रौपदी कहती है "हे राजन् ! प्रसन्न होइये तथा शन्ति को छोड़कर शत्रुओं के नाश के लिए क्षत्रियोचित तेज को धारण कीजिए क्योंकि काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीत कर शान्ति की सिद्धि तो निस्पृह मुनि लोग ही कर सकते हैं राजा लोग नहीं।"

यहां पर "शान्ति का परित्याग तथा तेज का धारण करने की सम्मति" कार्य है तथा "शान्ति से राजाओं को सफलता की अप्राप्ति तथा तेज से सफलता की प्राप्ति" कारण है। कार्य का कारण से साधर्म्य के द्वारा समर्थन होने से कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ४३ : पुनः द्रौपदी कहती है "तेजस्वियों में अग्रगामी, यश को सर्वस्व माननेवाले आप जैसे शूरवीर अत्यन्त कठिनाई से कहने योग्य, इस प्रकार शत्रु के द्वारा होनेवाले अपमान को प्राप्त करके यदि सन्तोष करते हैं तो हाय ! मनस्विता बेचारी निराश्रय होकर नष्ट हो गई।"

यहां पर "युधिष्ठिर द्वारा शत्रुकृत अपमान को सहना" इस कारण का "मनस्विता का निराश्रित होकर विनष्ट होना" इस कार्य से साधर्म्य से समर्थन होने से यहां पर कारण का कार्य से समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ४५ : द्रौपदी युधिष्ठिर से समझौते को भंग करने की सम्मति देते हुए कहती है "अत्यन्त पराक्रमी आपके लिए अपमान करने में प्रयत्नशील शत्रुओं के साथ समझौते का पालन करना उचित नहीं है। विजयाकांक्षी राजा लोग किसी न किसी बहाने से शत्रु के साथ की हुई सन्धि को तोड़ ही दिया करते हैं।"

यहां पर "तुम्हें समझौते का पालन करना उचित नहीं" इस विशेष बात का "विजय के इच्छुक राजा लोग सन्धि का पालन नहीं करते हैं" इस सामान्य

कथन से साधर्म्य के द्वारा समर्थन होने से सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

द्वितीय सर्ग

श्लोक ५ : दुर्योधन के वृत्तान्त को सुनने के पश्चात् द्रौपदी ने युधिष्ठिर को युद्ध करने की सम्मति दी। भीम भी द्रौपदी के ही मत का समर्थन करते हुए युधिष्ठिर से कहते हैं "आप गुणग्राही हैं इसलिए द्रौपदी के कहे हुए सुन्दर सारगर्भित वाक्य आपको भी अच्छे लगने चाहिये। यह सोचकर उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि ये स्त्री के वचन हैं क्योंकि विद्वान् लोग केवल वाक्य के गुणों को ग्रहण करते हैं और यह ध्यान नहीं देते हैं कि वक्ता स्त्री है या पुरुष (बालक है या वृद्ध)।"

यहां पर "यह द्रौपदी की सारगर्भित वाणी आपको भी अच्छी लगे" यह विशेष है तथा "विद्वज्जन वाक्य के गुणों पर ध्यान देते हैं उसके वक्ता पर नहीं" सामान्य है। सामान्य से .विशेष, कारण से कार्य का साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक १५ : भीम युधिष्ठिर से पराक्रम का आश्रय लेने का परामर्श देते हुए कहते हैं "उन्नति के पथ में बाधक उद्योगहीनता का अवलम्बन करके पड़े रहना ठीक नहीं है। समृद्धियां पराक्रमी (उत्साही) पुरुष का ही आश्रय लेती हैं। अनुत्साही का परित्याग कर देती हैं।"

यहाँ पर "उन्नति के बाधक अनुत्साह का आश्रय लिए रहना ठीक नहीं" यह कारण है तथा "पराक्रमी व्यक्ति का आश्रय लेने वाली समृद्धियाँ अनुत्साही के साथ नहीं रहती हैं" कार्य है। यहाँ पर कार्य से कारण का वैधर्म्य के द्वारा समर्थन होने से कार्य से कारण का समर्थन अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक १८ : भीम युधिष्ठिर से पराक्रम का आश्रय लेने के समर्थन में पुनः कहते हैं "सिंह अपने मारे हुए मतवाले हाथियों के द्वारा अपना आहार सम्पादन करता है, उसी तरह महान् व्यक्ति संसार को अपने प्रताप से अभिभूत करता हुआ किसी अन्य की सहायता से अपने अभ्युदय की अभिलाषा नहीं करता।"

यहाँ पर "सिंह के द्वारा हाथियों को मारकर अपना आहार सम्पादन करना" एक विशेष बात है जिसके द्वारा "महान् व्यक्ति किसी अन्य की सहायता से अपनी उन्नति की इच्छा नहीं करते" इस सामान्य कथन का समर्थन किया गया है। अतः विशेष से सामान्य का साधर्म्य से समर्थन हो रहा है। अतः यहाँ पर विशेष से सामान्य का समर्थन अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक २० : भीम पुनः कहते हैं "मनुष्य राख के ढेर को पैरों से कुचल डालते हैं, परन्तु उसमें जलती हुई अग्नि को पद्दलित करने का साहस नहीं होता है। इसलिए स्वाभिमानी व्यक्ति अपमान की आशंका से सुखपूर्वक प्राण विसर्जित कर देते हैं, पर अपने तेज को, मान और मर्यादा को, धक्का नहीं लगने देते।"

यहाँ पर भी "मनुष्य राख को पदाक्रान्त करते हैं किन्तु अग्नि को नहीं।" यह (विशेष) कारण है : "स्वाभिमानी लोग प्राणों को सरलता से त्याग देते हैं किन्तु तेज को नहीं।" (सामान्य) यह कार्य है। यहाँ पर कारण से कार्य का साधर्म्य से समर्थन होने से कारण से कार्य का समथन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है (मल्लिनाथ यहां पर विशेष से सामान्य का समर्थन मानते हैं)।

श्लोक २१ : भीम पुनः पराक्रम के ग्रहण का समर्थन करते हुए युधिष्ठिर से कहते हैं "सिंह किस फल की आशा से गरजते मेघों को देखकर ऊपर की ओर उछलने लगता है? बड़े लोगों का यह स्वभाव है जिसके कारण वे किसी की उन्नति को सहन नहीं करते हैं।"

यहाँ पर "सिंह के द्वारा मेघों का गर्जन सुनकर ऊपर उछल पड़ना" यह एक विशेष बात है जिससे कि "बड़े लोगों के द्वारा किसी की उन्नति न सहन करना" इस सामान्य कथन का समर्थन किया गया है अतः यहाँ पर विशेष से सामान्य का साधर्म्य से समर्थन होने के कारण विशेष से सामान्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ३० : दुर्योधन के कुटिल आचरण को सुनने के पश्चात् द्रौपदी ने युधिष्ठिर को युद्ध करने की सम्मति दी। भीम ने भी द्रौपदी के कथन का प्रबल समर्थन किया। इन दोनों के उत्तेजनापूर्ण वाक्यों को सुनकर युधिष्ठिर ने धैर्यपूर्वक कहना प्रारम्भ किया कि "बिना सोचे समझे एकाएक किसी कार्य को प्रारम्भ न करना चाहिए। अविवेक बड़ी बड़ी आपत्तियों का कारण होता है। गुण की लोभी सम्पत्तियां सोच विचारकर कार्य करने वाले व्यक्ति का स्वयमेव वरण कर लिया करती हैं।"

यहाँ पर "सहसा विधान का अभाव अर्थात् विमृश्यकारित्व रूप" कारण का "सम्पद् वरण रूप" कार्य से साधर्म्य से समर्थन हुआ है। इसलिए यहाँ पर साधर्म्यमूलक कार्य कारण रूप अर्थान्तरन्यास है।

इसी प्रकार यही "सहसा विधान का अभाव" रूप कारण से जब "अविवेक (बिना सोचे विचारे काम करना) बड़ी आपत्तियों का स्थान होता है" इस कार्य का वैधर्म्य से समर्थन होता है तब वैधर्म्यमूलक कार्य कारण रूप अर्थान्तरन्यास हो जाता है। इस प्रकार यह श्लोक दोनों का उदाहरण है।

श्लोक ३६ : युधिष्ठिर द्रौपदी और भीम को समझाते हुए कहते हैं कि "उदयाभिलाषी पुरुष को सर्वप्रथम बुद्धि के द्वारा क्रोध से उत्पन्न अज्ञान को मार भगाना चाहिए। सूर्य भी रात्रिजनित अन्धकार को नष्ट किए विना उदित नहीं हुआ करता है।"

यहां पर "उदय के इच्छुक व्यक्ति को अज्ञान को दूर करना चाहिए" यह एक सामान्य बात है जिसका "सूर्य के द्वारा रात्रिजनित अन्धकार को हटाना" इस विशेष कथन से समर्थन होने के कारण विशेष से सामान्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ४७ : युधिष्ठिर उत्तेजित हुई द्रौपदी और भीम को दुर्योधन के स्वयं विनाश के सम्बन्ध में बतलाते हुए कहते हैं "अहंकार से उद्दण्ड दुर्योधन राजाओं की अवमानना करके उनको भेद के योग्य बना देगा। जब एक साधारण व्यक्ति भी अपना तिरस्कार सहन करने में असमर्थ होता है तो फिर लोकोत्तर प्रतापशाली राजन्यवर्ग के विषय में क्या कहना? (अर्थात् वह अपना अपमान सहन नहीं कर सकता है)।"

यहाँ पर "दुर्योधन कृत अपमान से राजाओं का भेद योग्य हो जाना" यह विशेष बात है, "साधारण मनुष्य भी अपमान को सहन नहीं करता है फिर राजाओं के विषय में क्या कहना" सामान्य कथन है। अतः यहाँ सामान्य से विशेष का साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ पर साधर्म्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है। यहाँ पर सामान्य विशेष भाव है न कि कार्य कारण।

श्लोक ५२ : युधिष्ठिर पुनः कहते हैं "बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह उद्दण्ड मनुष्य के अभ्युदय की उपेक्षा करता रहे। ऐसा शत्रु कालान्तर में स्वयं सुजय हो जाता है क्योंकि दुर्विनीत मनुष्यों की सम्पत्तियों का अवसान विपत्ति में होता ही है।"

यहाँ पर "शत्रु कुछ काल बाद स्वयं सरलतापूर्वक जीतने योग्य हो जाते हैं" यह कार्य है तथा "उद्दण्डों की सम्पत्तियों का अवसान विपत्ति में होता है" यह कारण है। यहाँ पर कारण से कार्य का साधर्म्य से समर्थन होने की वजह से कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

तृतीय सर्ग

श्लोक १२ : पांडवों की मंगल-कामना से महर्षि व्यास जी वन में युधिष्ठिर के पास गये। वहाँ वे उन लोगों के प्रति अपने पक्षपात का कारण बतलाते हुए कहते हैं "यद्यपि हमें (कौरवों-पाण्डवों) दोनों को समान दृष्टि से देखना

चाहिये तो भी हे राजन्! आपकी गुणराशि से आकृष्ट होकर मेरा हृदय आपके वश में हो गया है। कामना रहित, मुक्ति के चाहनेवाले महात्माओं का भी सज्जनों के प्रति पक्षपात हो ही जाता है।"

यहाँ पर "युधिष्ठिर के गुणों से व्यास का हृदय उनकी ओर आकृष्ट हो गया" यह विशेष (कार्य) बात है जिसका "स्पृहारहित, मुमुक्षु महात्माओं का भी सज्जनों के प्रति पक्षपात होता है" इस (कारण के) सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ पर (कारण) सामान्य से (कार्य) विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक १३ : व्यास जी पुनः कहते हैं "क्या आप लोग उस धृतराष्ट्र के पुत्र नहीं हैं? अथवा आप लोग गुणों में दुर्योधन से बढ़ चढ़कर नहीं हैं? जिसके कारण से उस (धृतराष्ट्र) ने आप लोगों को निष्कारण ही निर्वासित किया। यह विषय वासना ही है जो कि बलपूर्वक अविवेक को उत्पन्न करती है।"

यहाँ पर "धृतराष्ट्र के द्वारा युधिष्ठिर को निर्वासित करना" कार्य है तथा "विषयाभिलाषा ही अविवेक को उत्पन्न करती है" यह कारण है। कारण से कार्य का साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ पर कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक १४ : व्यास जी दुर्योधन के अवश्यम्भावी विनाश के विषय में कहते हैं "इस (दुर्योधन) से प्रयोजन सिद्धि दूर-दूर क्यों न रहे जो कि संदिग्ध विषयों का निर्णय करने के लिए कर्ण प्रभृति दुर्जनों का आश्रय लेता है। दुष्टों का सम्पर्क विजय में बाधक होता है और सर्वनाशक विपत्तियों का कारण भी।"

यहाँ पर "कर्णादि दुर्जनों का आश्रय लेने वाले इस (दुर्योधन) का सफलताएँ त्याग क्यों न कर देंगी" इस विशेष कथन का "असज्जनों की संगति जय में बाधक होती है तथा सर्वनाशक विपदाओं का स्थान होती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने से सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक १७ : व्यास जी युधिष्ठिर को पराक्रम का आश्रय लेने की सम्मति देते हुए कहते हैं "पराक्रम का आश्रय लेकर ही आपको पृथ्वी पर अधिकार करना होगा। आपका शत्रु पराक्रम, बल तथा शास्त्र में आपसे बढ़ा-चढ़ा है। अतः शत्रु से बढ़ने के लिए आपको उपाय करना होगा क्योंकि युद्ध क्षेत्र में विजयलक्ष्मी उसी को प्राप्त होती है जिसमें पराक्रम होता है।"

यहाँ पर "शत्रु से बढ़ने के लिए आपको उपाय करना चाहिए।" यह एक कार्य है जिसका "युद्ध क्षेत्र में विजयलक्ष्मी उसी को प्राप्त होती है जिसमें पराक्रम

होता है" इस कारण से साधर्म्य से समर्थन होने से कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ३१ : "व्यास जी के अन्तर्धान हो जाने पर उनके आदेशानुसार वहाँ पुण्यात्मा यक्ष उपस्थित हुआ। उसने अर्जुन को प्रणाम किया और मधुर-भाषी अर्जुन में अनुराग उत्पन्न करके उसने मित्र की तरह विश्वास उत्पन्न किया, क्योंकि सुजनों का सम्पर्क शीघ्र ही विश्वास उत्पन्न करा देने वाला हुआ करता है।"

यहाँ पर "यक्ष का शीघ्रता से अर्जुन में विश्वास उत्पन्न हो गया" यह विशेष बात है जिसका "सुजनों का सम्पर्क शीघ्र ही विश्वास उत्पन्न करने वाला हुआ करता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने से सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ५३ : व्यास जी के आदेशानुसार अर्जुन पाशुपतास्त्र को प्राप्त करने हेतु जाने के लिए उद्यत होते हैं। उस समय द्रौपदी उनसे कहती है "एकान्त और विघ्न-बाधा शून्य स्थान में अधिक दिन तक अकेले निवास करते हुए भी आप असावधानी न कीजिएगा, क्योंकि राग-द्वेष से युक्त व्यक्तियों के चित्त महात्माओं के विषय में भी विकृत हो जाते हैं।"

यहाँ पर "बाधा रहित तथा मंगलकारी स्थान में निवास करते हुए भी प्रमाद के परित्याग का विधान" कार्य है जिसका "राग द्वेष से युक्त व्यक्तियों का भी महात्माओं के विषय में विकृत हो जाना" इस कारण का वैधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ पर कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

चतुर्थ सर्ग

श्लोक ४ : "इन्द्रकील पर्वत को जाते समय अर्जुन ने मार्ग में प्रकृति नटी की मनोहारिणी छटा का अवलोकन किया। एक स्थान पर उन्होंने जलाशय देखा जिसमें कि कमल और धान के पौधे साथ ही साथ लगे थे। इसके कारण उसमें अद्वितीय सौन्दर्य उपस्थित हो गया था। इस अप्रतिम रमणीयता को देखकर अर्जुन को अत्यधिक सन्तोष हुआ। कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो दुष्प्राप्य तथा अनुरूप समागम से उत्पन्न उत्कृष्ट सम्पत्ति का स्वागत न करे?"

यहाँ पर "अर्जुन का कमल और धान के संयोग से उत्पन्न सौन्दर्य को देखकर सन्तुष्ट होना" एक विशेष बात है जिसका "कौन व्यक्ति अनुरूप समागम से उत्पन्न उत्कृष्ट शोभा का स्वागत नहीं करता" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक २० : "वह यक्ष शरत्काल के गुणों की शोभा देखकर बिना कुछ पूछे ही अर्जुन से बोला। उस समय वह शरत्काल की शोभा को देखने में तल्लीन थे। क्योंकि अभिप्राय का ज्ञाता व्यक्ति अवसर पर कभी नहीं चूकता है।"

यहाँ पर "यक्ष का बिना पूछे ही बोलना" एक विशेष बात है जिसका "इंगितज्ञ व्यक्ति अवसर पर नहीं चूकता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन किया गया है। अतः यहाँ पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक २३ : यक्ष शरद् ऋतु का वर्णन करते हुए अर्जुन से कहता है कि "इस ऋतु में न तो सफेद बगुले ही आसमान में उड़ते हैं और न इन्द्रधनुष से सुशोभित मेघ-मालाएँ ही रहती हैं तथापि (इस ऋतु के प्रभाव के कारण) आकाश अतीव शोभा को धारण किये रहता है। ठीक है, जो वस्तु स्वभावतः सुन्दर है उसे अन्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहा करती है।"

यहाँ पर "शरद्ऋतु में आकाश का बकपंक्ति तथा इन्द्रचाप आदि के बिना ही शोभित होना" एक विशेष बात है जिसका "स्वाभाविक रूप से मनोहर वस्तु को अन्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहा करती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन किया गया है अतः यहाँ पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक २५ : यक्ष शरदऋतु का वर्णन करते हुए अर्जुन से कहता है कि "वर्षाकाल के बीत जाने पर मोरों का मद क्षीण हो जाता है अतः उनकी वाणी कर्णकटु प्रतीत होती है। जब कभी वे शरद् ऋतु में बोलते हैं तब कान उनसे निस्पृह हो मदोन्मत्त हंसों की ध्वनि का श्रवण करते हैं। ठीक है, किसी वस्तु के मन को प्रिय लगने में गुण ही कारण होते हैं, चिरकालीन परिचय नहीं।"

यहाँ पर "शरद ऋतु में मयूरों के स्वर के कर्ण-कटु हो जाने के कारण हंसों में स्पृहा हो जाना" एक विशेष बात है जिसका "किसी वस्तु के प्रिय होने में गुण ही कारण होते हैं चिरकालीन परिचय नहीं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

पंचम सग

श्लोक १६ : "इसके पश्चात् यक्ष ने हिमालय के अवलोकन से आश्चर्यचकित अर्जुन से आदरपूर्वक मधुर शब्दों में कहा। यदि मनुष्य अवसर समझकर बिना पूछे ही कुछ कहता है तो उसकी शोभा होती है।"

यहां पर "यक्ष का बिना पूछे ही बोलना" एक विशेष बात है जिसका "मुखरता अवसर पर अच्छी लगती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन

किया गया है। अतः यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तर-न्यास है।

श्लोक ४६ : यक्ष ने प्रस्थान करते समय अर्जुन से कहा कि "आप शान्त होकर भी (व्यास) मुनि की आज्ञा से क्षात्र धर्म का पालन करते हुए अर्थात् शस्त्र ग्रहण करके सावधान होकर तपश्चर्या कीजिए। प्रायः भाग्य के अनुकूल होने पर भी विघ्न-बाधाओं के बिना कल्याण प्राप्त करना कठिन होता है।"

यहां पर "अर्जुन के लिए शस्त्र-ग्रहण करके तपस्या करने का निर्देश" कार्य है तथा "विघ्न-बाधाओं के बिना कल्याण प्राप्त करना दुष्कर होता है" यह कारण है। कारण से कार्य का साधर्म्य से समर्थन होने से यहां पर कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ५१ : "इस प्रकार प्रिय और हितकारी वाक्य कहकर प्रेमपात्र यक्ष (राजराजभृत्य) चला गया। उस समय अर्जुन ने क्षण भर के लिए यक्ष का ध्यान किया क्योंकि सुजनों का वियोग दुःखदायी होता है।"

यहां पर "अर्जुन का यक्ष के चले जाने पर दुःखी होना" एक विशेष बात है जिसका "सुजनों का वियोग दुःखदायक होता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन किया गया है अतः यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

षष्ठ सर्ग

श्लोक ७ : "अर्जुन के लिए गंगा का तट अधिक प्रीतिजनक हुआ। यद्यपि वह तट हाथियों के तिर्यक दन्त प्रहार से क्षत विक्षत हो गया था तथा मदक्षरण के कारण मुदित भ्रमरियों से व्याप्त था तथापि वह अर्जुन को मनोरम प्रतीत हुआ। ठीक है, बड़े लोग कष्ट सहन करके भी महान उत्कर्ष के लिए यत्नशील रहते हैं।"

यहां पर "गंगा तट का क्षत विक्षत होकर भी चित्ताकर्षक होना" एक विशेष बात है जिसका "बड़े लोग कष्ट सहन करके भी महान् उत्कर्ष के लिए यत्नशील रहते हैं।" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक १९ : "व्यास मुनि के आदेश से अर्जुन ने इन्द्रकील पर्वत पर तप करना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उन्होंने योगशास्त्र के अनुसार ध्येय विषय में बुद्धि का नियमन करके मुनियों की वृत्ति को धारण किया। इस प्रकार की दुष्कर तपस्या करते हुए भी अर्जुन को किंचिन्मात्र भी खेद नहीं हुआ। क्योंकि मनस्वियों के लिए कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो चित्त में उद्वेग उत्पन्न करे।"

यहां पर "अर्जुन को कठोर तपस्या करते हुए भी किंचिन्मात्र भी खेद नहीं हुआ" यह एक विशेष बात है जिसका "मनस्वियों के लिए कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो चित्त में उद्वेग उत्पन्न करे" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक २४ : यहां पर कवि अर्जुन की तपस्या का वर्णन करते हुए कहता है कि "यद्यपि अर्जुन ने शस्त्र धारण किया था तथापि उनका स्वभाव सरल ही था। उन्होंने अपने शुद्ध आचरणों से ऋषियों को भी जीत लिया था। वह रजोगुण से निर्मुक्त होकर हरिणों को रमण कराते रहते थे। ठीक है, दया दाक्षिण्यादि गुण किसको रमण कराने में समर्थ नहीं होते हैं अर्थात् किसको अपने वश में नहीं कर लेते हैं।"

यहां पर "शस्त्र धारण किए हुए भी अकुटिल स्वभाव (सरल चित्त) अर्जुन ने रजोगुण रहित होकर हरिणों को रमण कराया" एक विशेष बात है जिसका "गुण किसको रमण कराने में समर्थ नहीं होते हैं" इस सामान्य कथन के कारण साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तर-न्यास अलंकार है।

श्लोक २८ : कठोर तपस्या के कारण अर्जुन को विभिन्न प्रकार के चमत्कार लक्षित होने लगे। तप के प्रभाव के कारण अर्जुन के समीप शीतल, मंद तथा सुगन्धित वायु प्रवाहित होती थी जिससे ग्रीष्मकालीन सूर्य की प्रचण्ड किरणें उनको किसी प्रकार का कष्ट नहीं देती थीं। फूल चयन करते समय बड़े बड़े वृक्ष स्वयं अवनत हो जाते थे। अर्जुन के शयन-स्थान की भूमि स्वयं तृणों से आच्छादित हो जाती थी तथा मेघरहित आकाश जल विन्दुओं की वर्षा करके धूलि का शमन कर देता था। "इस प्रकार महती फलसिद्धि के सूचक इन निमित्त कुसुम रूप लक्षणों को देखकर भी अर्जुन के मन में लेशमात्र भी विस्मय नहीं हुआ क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुषों के अनुभाव गुण उन्हें धैर्य से च्युत नहीं करते हैं।"

यहां पर "अर्जुन कार्यसिद्धि के निमित्तभूत लक्षणों को देखकर भी आश्चर्य-चकित नहीं हुआ" यह विशेष बात है जिसका "जितेन्द्रिय लोगों के अनुभाव गुण उनको धैर्यच्युत नहीं करते हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य होने के कारण यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ३७ : इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन को तपस्या करते हुए देखकर पर्वत के रक्षण कार्य में नियुक्त वनेचरों को चिन्ता हुई अतः उन्होंने इन्द्र की पुरी अमरावती में जाकर इन्द्र से अर्जुन की तपस्या के सम्बन्ध में निवेदन किया। अन्त में वनेचरों ने अपने साधु अथवा असाधु कथन के प्रति क्षमा मांगते हुए

इन्द्र से कहा "बहुत फल वाले तप रूप कारण को ध्यान में रखकर अथवा हमारी अल्पज्ञता को सोचकर हमारे साधु अथवा असाधु वचनों को आपको सहन करना चाहिए क्योंकि कहां वनेचर और कहां निपुण यती लोग।"

यहाँ पर "साधु अथवा असाधु वचनों को सहन करना चाहिए" यह कार्य है जिसका "कहाँ वनेचर और कहाँ निपुण यती लोग" इस कारण से साधर्म्य से समर्थन हो रहा है। अतः यहाँ पर कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तर-न्यास अलङ्कार है।

श्लोक ३८ : "इन्द्र ने वनेचरों (गुह्यक गण) से अपने प्रिय पुत्र अर्जुन की तपस्या के सम्बन्ध में सुना। इसको सुनकर उनके हृदय में अत्यधिक हर्ष उत्पन्न हुआ। उसको उन्होंने किसी के सामने प्रकट नहीं होने दिया। ठीक है, बड़े लोगों की बुद्धि सर्वदा नीति-पथावलम्बिनी हुआ ही करती है।"

यहाँ पर "इन्द्र के द्वारा अपने हर्षातिरेक को किसी को विदित न होने देना" एक विशेष बात है जिसका "बड़े लोगों की बुद्धियाँ नीतिपथावलम्बिनी होती हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन किया गया है अतः यहां सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक ४३ : इन्द्र अप्सराओं को अर्जुन की तपस्या को भङ्ग करने का आदेश देते हुए कहते हैं "आप लोग कलाओं में कुशल गन्धर्वों को साथ लेकर इन्द्रकील पर्वत पर जाएं और अर्जुन की तपस्या को भंग करें। आप लोग तो मुमुक्षुओं के चित्त को भी आकर्षित कर लेती हैं अतः सुखाभिलाषी पुरुष तो आसानी से वश में आ सकता है।"

यहाँ पर "आप लोग (अप्सरायें) जाकर उस अर्जुन की तपश्चर्या को भङ्ग करें" यह कार्य है जिसका "वीतराग पुरुषों के चित्त को जीतनेवाली आप लोगों के लिए सुखाभिलाषी व्यक्ति सरलता से जेतव्य है" इस कारण से साधर्म्य से समर्थन हो रहा है। अतः यहाँ कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक ४४ : तपस्या करते समय किसी प्रकार की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए यह एक सामान्य नियम है किन्तु अर्जुन धनुष धारण करके तपश्चर्या करते थे। अतः इसके विषय में इन्द्र अप्सराओं से कहते हैं "यह तपस्वी शत्रु का नाश करके विषय सुख की अभिलाषा करता है, इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है। क्योंकि उस ढंग से (शस्त्र ग्रहण करके) तपस्या करने से संसार से मुक्ति नहीं मिलती है। कहाँ धनुष ? और कहाँ मोक्ष का मार्ग ?"

यहाँ पर "अर्जुन का धनुष धारण करके तपस्या करना संसार से मुक्ति

के लिए नहीं है" इस विशेष बात का "कहाँ धनुष ? और कहाँ मोक्ष का मार्ग ?" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ४५ : इन्द्र अप्सराओं की शंका का निवारण करते हुए कहते हैं कि "यद्यपि वह महातपस्वी है तथापि अन्य ऋषियों की भाँति उसमें कोप-विकार की भी आप लोग चिन्ता न करें क्योंकि जो पराक्रमशाली पुरुष हैं और अपने यश की रक्षा करते हैं वे स्त्रियों के प्रति हिंसा बुद्धि नहीं रखते हैं।"

यहाँ पर "अर्जुन से आप लोग भयभीत न हों" इस कार्य का "अपने यश की रक्षा करनेवाले पराक्रमी व्यक्तियों की बुद्धियां स्त्रियों के प्रति हिंसा भाव को नहीं रखती हैं" इस कारण से साधर्म्य से समर्थन हो रहा है अतः यहाँ पर कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक ४६ : "अमर ललनाओं का समूह स्वामी के आदेश को मानकर देवताओं के समक्ष, पूर्वोक्त प्रकार की प्रशंसा से अधिक सुन्दर कान्ति को प्राप्त हुआ, क्योंकि यदि किसी अधिकार में लगाये गये पुरुष की प्रशंसा की जाए तो उसके तेज की अभिवृद्धि होती है।"

यहाँ पर "इन्द्र की प्रशंसा से अप्सराएँ और अधिक कान्तिवाली हो गईं" यह विशेष बात है जिसका "अधिकार में लगाए गए पुरुष की प्रशंसा उसके तेज की अभिवृद्धि करती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

सप्तम सर्ग

श्लोक ५ : "अमरावती से इन्द्रकील पर्वत को प्रस्थान करती हुई अप्सराओं के शरीर पर मार्ग के परिश्रम के कारण पसीना निकल आया था। श्रमजल के कणों से स्तनों के ऊपर का अंगराग छूट गया था और उन पर रोमांच हो रहा था। माथे के तिलक मिटकर मोतियों की सुन्दरता को प्राप्त हो रहे थे। इस प्रकार वह स्वेद सलिल अलंकार का कार्य कर रहा था। ठीक है, स्वाभाविक रूप से मनोरम वस्तुओं में यदि कोई विकृति भी उत्पन्न हो जाए तो उससे उनकी शोभा ही होती है।"

यहाँ पर "अप्सराओं की स्वेद-सलिल की बूँदें उनके तिलक, अंगराग आदि को विकृत करके भी आभूषण का कार्य कर रही थीं" इस विशेष बात का "स्वभाव से सुन्दर वस्तुओं की विकृति भी शोभावर्द्धक होती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक १३ : इन्द्र के आदेश से अप्सराओं ने सैन्यबल के साथ अमरावती से इन्द्रकील पर्वत की ओर प्रस्थान किया। "मार्ग में देव हाथियों ने दन्त प्रहार से बादलों को क्षत विक्षत कर दिया, जिससे जल बहने लगा। वे हाथी खूब तपे हुए तो थे ही अतः उस जल से शान्त होकर वह अत्यन्त प्रसन्न हो गये। ठीक है, जो महानुभाव दूसरों का उपकार करने के लिए कटिबद्ध रहते हैं वे कष्ट दिए जाने पर भी अपने विचारों में परिवर्तन नहीं करते हैं।"

यहाँ पर "हाथियों के द्वारा क्षत होने पर भी बादलों का हाथियों को जल से शान्त करना" एक विशेष बात है जिसका "परोपकार में लगे लोगों की दुष्ट लोगों के प्रति भी कल्याणी प्रवृत्ति होती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तर-न्यास अलंकार है।

श्लोक १५ : "मेघों ने वृष्टि करके सुरसुन्दरियों के तिलक को मिटा दिया था (यह तो उन्होंने अपराध किया) और उनकी थकावट को दूर कर आनन्द पहुँचाया। इससे वे उनके अतिशय सम्मान के पात्र बन गए। अल्प अपराध से प्रभूत उपकार नष्ट नहीं हुआ करता है।"

यहां पर "बादलों के द्वारा सुरसुन्दरियों के तिलक को मिटाकर अपराध करना किन्तु उनके परिश्रम को दूर करके उपकार करना" यह विशेष बात है जिसका "थोड़ा दोष बहुत उपकार को नष्ट नहीं करता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक २८ : अप्सराओं ने इन्द्रकील पर्वत पर पदार्पण किया। "उस समय सौरभ सम्पन्न पुष्प प्रधान वृक्षों की शोभा तथा निर्जन प्रदेश, और नूतन पल्लवों से सुशोभित होने वाली लताओं की सम्पत्ति, ये सब वस्तुयें सुरांगनाओं के उपभोग से सफल हो गईं (नहीं तो जंगल में इन्हें कौन पूछता ? और ये यों ही अपनी शोभा और सम्पत्ति को खो बैठतीं)। वही सम्पत्ति सम्पत्ति है जो औरों का उपकार कर सके।"

यहाँ पर "सुगन्धित पुष्पयुक्त वृक्षों, निर्जन प्रदेशों तथा लताओं का अप्स-राओं के उपभोग से सफल होना" एक विशेष बात है जिसका "वही सम्पत्ति सम्पत्ति है जिससे औरों का उपकार होता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

अष्टम सर्ग

श्लोक ४ : अप्सराओं ने इन्द्रकील पर्वत पर अपने निवास के हेतु नगर

बसाया। तदनन्तर वे वन-विहार के लिए चल पड़ीं। "वन-पथ के वृक्ष प्रचुर परिमाण में पुष्प धारण कर रहे थे। उनके पुष्प हाथ से उपलब्ध हो सकते थे। तथापि सुन्दरियों ने उन वृक्षों का परित्याग करके आगे बढ़ने के लिए ही यत्न किया। कारण यह है कि कामीजन सर्वदा गुणों की अधिकता की खोज में लगे रहते हैं (उपस्थित गुणों से उन्हें सन्तोष नहीं होता है)।"

यहां पर "हस्तग्राह्य कुसुमों से लदे वृक्षों को छोड़कर आगे बढ़ जाना" विशेष बात है जिसका "कामीजन सर्वदा गुणों की अधिकता की खोज में लगे रहते हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ७ : वन-विहार करते समय किसी अप्सरा को भ्रमरपंक्ति ने घेर लिया। इस पर कोई व्यक्ति कह रहा है "अयि मानिनि! अपने हाथों को नए नए पल्लवों के समान इधर उधर हिलाकर के व्यर्थ का कष्ट मत उठाओ। यह भ्रमरपंक्ति कल्पलता के भ्रम में पड़कर तुम्हारे समीप आई हुई है। तुम इससे डरती क्यों हो?"

यहां पर "अयि मानिनि! तुम व्यर्थ परिश्रम न करो" यह कार्य है जिसका "यह भ्रमरपंक्ति कल्पलता के भ्रम से ही तुम्हारे पास आ रही है डर नहीं रही है" इस कारण से साधर्म्य से समर्थन होने की वजह से यहां पर कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ३७ : वन-विहार करने के अनन्तर अप्सराओं ने जल-विहार करना प्रारम्भ किया। "किसी सखी के उरस्थल पर, जो कि उन्नत स्तनों से मनोरम था, प्रिय ने माला को स्वयं गुम्फित करके उसकी सौत के सामने पहनाया था। यद्यपि वह माला जल-विहार के कारण मसल दी गई थी तथापि सखी ने उसका परित्याग नहीं किया क्योंकि गुण तो प्रेम में निवास करते हैं, किसी वस्तु में नहीं।"

यहां पर "सखी द्वारा माला के खराब हो जाने पर भी न फेंका जाना" एक विशेष बात है जिसका "गुण प्रेम में निवास करते हैं, वस्तु में नहीं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ४६ : "जल-विहार करते समय एक मानिनी ने एक मत्स्य के द्वारा जल के आहत होने पर त्रास का अभिनय करते हुए अपने प्रिय का आलिंगन कर लिया। अतः प्रिय के आनन्द की सीमा न रही। रमणियां अपनी कृत्रिम चेष्टाओं से भी मन को मोह सकती हैं यदि उनमें नैसर्गिक प्रेम विद्यमान हो।"

यहां पर "मानिनी ने भय का अभिनय करते हुए प्रिय का आलिंगन करके प्रिय को मुदित कर दिया" यह विशेष बात है जिसका "रमणियां स्वाभाविक प्रेम से युक्त कृत्रिम चेष्टाओं से भी मन को हर लेती हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ५४ : "जलविहार करते समय किसी प्रिय ने सपत्नी के ऊपर जल छिड़कने के पश्चात् अपनी प्रिया के ऊपर उसका छींटा उड़ाया। इससे वह क्रुद्ध हो गई और अनेक प्रकार के अनुनय विनय करने से भी प्रसन्न नहीं हुई। अत्यधिक प्रेमाभिभूत प्रणयीजन के हृदय में थोड़ा भी कोप अनुनय-विनय से बढ़ता ही जाता है।"[१]

यहां पर "मानिनी का प्रिय से क्रुद्ध हो जाने पर अनुनय-विनय से भी प्रसन्न न होना" एक विशेष बात है जिसका "घनिष्ठ प्रेमाभिभूत प्रणयीजन का थोड़ा भी क्रोध अनुनय-विनय से बढ़ता जाता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

नवम सर्ग

श्लोक १३ : यहां पर कवि रात्रि का वर्णन करता है "रात्रिकाल में जिन पक्षियों के दम्पति स्वभावतः पृथक् हो जाते हैं, वे चाहते तो यही हैं कि हम लोग वियुक्त न हों तथापि वियुक्त हो ही जाते हैं। दैव की आज्ञा कौन भंग कर सकता है।"

"रात्रि काल में विरही पक्षियों का न चाहते हुए भी वियुक्त हो जाना" विशेष बात है जिसका "दैव की आज्ञा भंग करने में असामर्थ्य" रूप सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक १६ : "रात्रि के राग से मलिन होकर प्रफुल्लता का त्याग करने वाले कमलों को छोड़कर उनकी शोभा आकाशमंडल में चली गई जहां पर तारे चमचमा रहे थे। सब लोग सुरक्षित स्थान में निवास करने के अभिलाषी होते हैं (दुःख में कौन किसी की सहायता करता है)।"

यहां पर "शोभा का मुरझाए हुये कमलों को छोड़कर चमचमाते हुए तारों से युक्त आकाश में चला जाना" एक विशेष बात है जिसका "सभी लोग

---

१. यहां श्लोकों का अर्थ मात्र दिया गया है। सम्बन्धित श्लोकों को परिशिष्ट में देखिए।

सुरक्षित स्थान में रहने की इच्छा करते हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ३० : "रात्रि-काल के वियोगी चक्रवाक पक्षी ने अपनी स्त्री के साथ रहकर धैर्यपूर्वक सूर्य की प्रखर किरणों को तो सहन कर लिया परन्तु (रात्रि में वियोगावस्था में) चन्द्रमा की (शीतल) किरणों को न सहन कर सका क्योंकि जब हृदय वेदना से व्यथित रहता है तो सभी वस्तुएँ असह्य हो जाती हैं।"

यहां पर "रात्रि में वियोगावस्था में चक्रवाक के द्वारा चंद्रमा की शीतल किरणों का न सहन कर पाना" एक विशेष बात है जिसका "मन के दुःखी होने पर सब कुछ असह्य होता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ३२ : "सामर्थ्य सम्पन्न (तेजवान) होने पर भी सहायकविहीन पुरुष के पास विजयश्री नहीं आती है, यह निर्विवाद है। क्योंकि समर्थ होते हुए भी कामदेव ने चन्द्रमा की किरणों से मित्रता करके ही विजयी धनुष को ग्रहण किया था।"

यहां पर "प्रतापी होने पर सहायकविहीन पुरुष विजयी नहीं होता है। वह साहाय्य से ही विजयी हो सकता है" इस सामान्य कथन का "समर्थ होते हुए भी कामदेव चन्द्रमा की किरणों की सहायता लेकर ही विजय प्राप्त करता है" इस विशेष बात से साधर्म्य से समर्थन होने से यहां पर सामान्य का विशेष से समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ३५ : "अपने प्राणेश्वर से वियुक्त होने में उन अप्सराओं को न तो पुष्पमाला, न चन्दन और न मद्य ही रुचिकर प्रतीत हुआ क्योंकि प्रिय का समागम ही रति की सहायक सामग्रियों में रमणीयता का आधान करता है।"

यहां पर "पुष्पमाला, चन्दन तथा मद्यादि रति की सहायक सामग्रियों का अच्छा न लगना" कार्य है जिसका "प्रिय का समागम ही इनमें रमणीयता की उपलब्धि कराता है" इस कारण से वैधर्म्य से समर्थन होने से यहां पर कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ३७ : "अनेक प्रकार के वार्तालाप करती हुई अप्सराएँ रमणार्थ पति के घर पहुँच ही गईं। प्रायः कामदेव द्वारा उपहत व्यक्तियों की भूल भी उपकारक हो जाती है।"

यहां पर "वार्तालाप में रत अप्सराओं का पति के घर पहुँचना" एक विशेष बात है जिसका समर्थन "कामोपहत व्यक्ति का स्खलन भी उपकारी होता है"

इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने से सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ४९ : इस श्लोक में कवि अप्सराओं के अपने प्रियतमों के साथ सम्भोग का वर्णन करता है "आलिंगन की प्रशंसा नखक्षतों के कारण ही होती है। चुम्बन की शोभा भी घने दांतों से किए गए चिह्नों से ही होती है। सुकुमारता के कारण प्रसिद्ध कामदेव भी सुख के समय विपरीत (क्रूर) हो जाता है।"

यहाँ पर "आलिंगन में नखक्षत तथा चुम्बन में दन्तक्षत का होना" विशेष बात है जिसका "सुकुमारता में प्रसिद्ध कामदेव भी सुरतक्रीड़ा के समय क्रूर हो जाता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन हो रहा है। अतः यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ५८ : सुरतोपभोग के समय अप्सराओं ने अपने प्रियतमों के साथ मदिरा पान किया। एक अप्सरा ने अपने प्रिय को अपनी जूठी शराब दी जिससे वह बहुत अधिक प्रसन्न हुआ। इसी का वर्णन करते हुए कवि कहता है "गुणों से सम्पन्न आश्रय के कारण गुणों में विशेषता आ जाती है" यह स्पष्ट बात है क्योंकि प्रियतमा के द्वारा प्रदत्त मद्य ने स्वाद के आधिक्य से मद्य पान करने वाले को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया।

यहां पर "गुणों से युक्त आश्रय के कारण गुणों में विशेषता आ जाती है" यह सामान्य कथन है जिसका "प्रियतमा के द्वारा मुख से दी गई मदिरा अत्यधिक स्वादिष्ट हो गई" इस कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ पर सामान्य का विशेष से समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ६४ : "क्रोध से (अर्थात् नाक भौंह सिकोड़ने से) युवतियों में कुछ विकार आ गया था परन्तु सुन्दरता ने उसे बना दिया। मद्यमद ने उन सुंदरियों को अपने अपने पति के वश में कर दिया। सभी लोग अपने अपने पक्ष का कल्याण चाहते हैं (तात्पर्य यह है कि "सुन्दरता" शब्द स्त्रीलिंग है और "मदराग" शब्द पुँल्लिंग है, सुन्दरता ने स्त्रियों के सौन्दर्य को क्रोधादिक के कारण विकृत न होने दिया। यहां पर स्त्री ने स्त्री का उपकार किया। मदराग को देखकर स्त्रियां पतियों पर मुग्ध हो गईं। यहां पुरुष (मदराग) ने पुरुष जाति का उपकार किया)।

यहाँ पर "चारुता ने क्रोध से विकृत युवतियों को सौन्दर्य प्राप्त कराया तथा मद्य मद ने उनको प्रियतमों के वश में ला दिया" यह एक विशेष बात है जिसका "सभी लोग अपने पक्ष का कल्याण चाहते हैं" इस सामान्य कथन से

साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ६८ : "जो सुरांगना मान करके बैठी थी वह भी कामदेव के कारण अनुराग दिखलाकर—अपने प्राणाधिप के अंक में स्वयं उपस्थित हो गई : चंचला मदिरा गुण और दोषों के विषय में निश्चय ही रहस्योद्घाटन कर देती है।"

यहां पर "मदिरा के प्रभाव के कारण मानिनी सुरांगनाओं का भी अपने प्रियतमों के अंक में स्वयं चला जाना" एक विशेष बात है जिसका "चंचला मदिरा गुण और दोष के विषय में रहस्योद्घाटन कर देती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ७० : "अधिक मदिरापान के कारण कहीं हम लोगों की बुद्धि जड़ न हो जाए और हमारे प्राणनाथ हमारा परित्याग करके रमण के लिए कहीं अन्यत्र न चले जाएं—इस प्रकार अपने-अपने प्रियतमों के विषय में शंकित सुरवधुओं ने अधिक मात्रा में मद्यपान की अभिलाषा नहीं की। क्योंकि प्रेम तो वहां भी शंका करने लगता है जहां उसका कोई स्थान नहीं होता है।"[1]

यहाँ पर "सुरवधुओं ने अपने प्रियतमों के विषय में शंकित होकर अधिक मद्यपान की अभिलाषा नहीं की" यह विशेष बात है जिसका "प्रेम तो वहाँ भी शंका करने लगता है जहाँ उसका कोई स्थान नहीं होता है।" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

दशम सर्ग

श्लोक ६ : "उस वनभूमि ने राजर्षि (अर्जुन) से अधिष्ठित होने के कारण उन गन्धर्वों और अमर रमणियों के तेज का अपहरण कर लिया। अत्यन्त प्रभावशाली, परम तेजस्वी और तपस्वियों के लिए कोई कार्य ऐसा नहीं है, जो दुष्कर हो।"

यहाँ पर "अर्जुन से अधिष्ठित भूमि ने अप्सराओं व गन्धर्वों के तेज को अपहृत कर लिया" यह एक विशेष बात है जिसका "तपस्वियों के लिए कोई कार्य दुष्कर नहीं है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

---

१. यहाँ श्लोकों का अर्थमात्र दिया गया है। सम्बन्धित श्लोकों को परिशिष्ट में देखिये।

श्लोक ९ : "(महामुनि अर्जुन के तपोवन का) वह अशोक वृक्ष, जिसकी शाखाएँ गीले वल्कल वस्त्र से झुकी हुई थीं और जिसके सुकोमल पल्लव मसल डाले गये थे, देववधूटियों के अतिशय सम्मान का पात्र बन गया। क्योंकि उत्तम गुणशाली व्यक्तियों की परिचर्या भी उत्कर्ष की वृद्धि करती रहती है।"

यहाँ पर "अर्जुन के द्वारा सेवित अशोक वृक्ष का अप्सराओं का प्रिय बन जाना" विशेष बात है जिसका "सद्‌गुणी व्यक्तियों की परिचर्या भी उत्कर्ष के लिए होती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक १७ : "अप्सरायें कृत्रिम मोहन करने की अभिलाषा से अर्जुन के पास आई थीं किन्तु ज्यों ही उन्होंने अर्जुन को देखा त्यों ही उनके मन में कामदेव का अवतरण हो गया (अर्थात् अर्जुन को देखते ही वे स्वयं उनपर मुग्ध हो गईं)। ठीक है, युवावस्था की रम्य शोभा मन का अपहरण कर ही लेती है।"

यहाँ पर "अर्जुन के मोहन के लिए आई हुई अप्सराओं का स्वयं अर्जुन पर मुग्ध हो जाना" विशेष बात है जिसका "युवावस्था की मनोरम शोभा चित्त को हर ही लेती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक २३ : "कदम्ब की वायु तथा मद के कारण मयूरों की मनोहर काकली मन को अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी तथापि विजयशील अर्जुन साधारण पुरुषों की भाँति धैर्यच्युत नहीं हुए क्योंकि बड़े लोगों की समाधि का भंग होना कोई सरल बात नहीं है।"

यहाँ पर "कदम्बानिल तथा मयूरों की मनोहर काकली भी अर्जुन को धैर्यच्युत करने में सफल नहीं हुईं" विशेष बात है जिसका "बड़े लोगों की समाधि का भंग करना कोई सरल बात नहीं है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक २५ : इस श्लोक में कवि उस समय का वर्णन करता है जब कि वर्षाऋतु जा रही होती है और शरद्-ऋतु का आगमन हो रहा होता है "मतवाले मयूरों की मनोहर काकली राजहंसों के कल कुंजन के साथ तथा कुमुद वन की पुष्पवृष्टि के साथ मिल कर अनुपम शोभा धारण कर रही थी, क्योंकि महान् गुणों का संयोग अत्यन्त उत्कर्ष के लिए होता है।"

यहाँ पर "मयूर की काकली राजहंसों के शब्द के साथ मिलकर तथा कुमुद-वन की पुष्पवृष्टि के साथ मिलकर अतुलनीय शोभा को धारण कर रही थी" यह विशेष बात है जिसका "उत्कृष्ट गुणों का संयोग अतुलनीय सौन्दर्य का पोषक

होता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक २९ : "(वसन्त-ऋतु में) लवली लता के विकसित पुष्पसमूह से तथा लोध्रसंसर्ग से सुरभित वायु के द्वारा अर्जुन का मन हर्षित हो रहा था तथापि अर्जुन में कोई विकार नहीं उत्पन्न हुआ। ठीक है, विजयाभिलाषियों का चित्त नीतिपथ से विचलित नहीं होता है।"

यहाँ पर "लवली लता के पुष्पों तथा लोध्र से सुरभित वायु से भी अर्जुन में कोई विकार नहीं उत्पन्न हुआ" यह एक विशेष बात है जिसका "विजयाभिलाषी व्यक्तियों का चित्त नीति के मार्ग से विचलित नहीं होता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ३५ : वसन्त ऋतु भी अर्जुन की समाधि भंग न कर सकी। इसी का वर्णन करते हुए कवि कहता है "शत्रु विजय प्राप्त करने में तब तक समर्थ नहीं होता है जब तक जितेन्द्रियता रक्षा करने के लिए सन्नद्ध रहती है। त्रिभुवन-विजयी वसन्त ऋतु अर्जुन पर विजय न प्राप्त कर सकी (क्योंकि अर्जुन जितेन्द्रिय थे)।"

यहां पर "जब तक जितेन्द्रियता साथ में रहती है तब तक अन्य कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता है" यह सामान्य कथन है जिसका "त्रिभुवन विजयी वसन्त ऋतु अर्जुन को जीतने में सफल नहीं हुई" इस विशेष कथन से साधर्म्य से समर्थन होने से विशेष से सामान्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ३७ : "बलवान होते हुए भी परस्पर स्पर्द्धी सेना शत्रु की विजय में समर्थ नहीं होती है क्योंकि त्रिलोक विजयी ऋतुओं का समूह क्षण भर के लिए भी उस तपस्वी (अर्जुन) को व्यग्र न कर सका।"

यहां पर "बलवान भी परस्पर विरोधी सेना शत्रु की विजय में समर्थ नहीं होती है" यह सामान्य कथन है जिसका "त्रिभुवन विजयी ऋतुओं का समूह अर्जुन को व्यग्र करने में समर्थ नहीं हुआ" इस विशेष बात से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण विशेष से सामान्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ४० : "जो अमर ललनाएं अपने सौन्दर्य रूप गुण से अर्जुन को मोहित करने गई थीं वे उन्हें देखते ही स्वयं कामदेव से पीड़ित हो गईं। किसी उद्देश्य का अन्तिम परिणाम क्या होता है यह अन्धकार में ही छिपा रहता है।"

यहां पर "अर्जुन को मोहित करने के लिये गई अप्सराओं का स्वयं उन पर मोहित हो जाना" विशेष बात है जिसका "प्रयोजनों का परिणाम दुर्ज्ञेय होता है"

इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ४४ : "काम से पीड़ित एक ललना का अनुराग उस समय व्यक्त हो गया जबकि वह अर्जुन के सम्मुख आने पर सखियों के शरीर से अपने अंग को छिपाने लगी। क्योंकि सम्यक् रूप से अपने आप को छिपाने की चेष्टा ही अनुराग को व्यक्त कर देती है।"

यहां पर "काम पीड़ित अप्सरा द्वारा अर्जुन के सम्मुख अपने अंगों को छिपाना" एक विशेष बात है जिसका "सम्यक् गोपन चेष्टा ही अनुराग को व्यक्त कर देती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ५८ : "उन अप्सराओं ने अर्जुन के सामने दीनतापूर्वक अनुनय विनय की, लज्जा का परित्याग किया, और अधिक कहाँ तक कहा जाए आंसुओं की धाराओं को भी बहाया। इससे अधिक वे कर ही क्या सकती थीं, क्योंकि समागम में प्रतिकूल प्रिय को अनुकूल बनाने के लिए अबला जनों के साधन भी तो यहीं तक सीमित हैं।"

यहां पर "अप्सराओं द्वारा अर्जुन का मोहन करने के लिए विभिन्न उपायों का वर्णन" एक विशेष कथन है जिसका "समागम में प्रकुपित प्रिय को अनुकूल बनाने के लिए अबलाजनों के साधन भी तो यहीं तक सीमित हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ५९ : "उन देवांगनाओं का किंचिन्निमीलित नेत्रों से अवलोकन, लज्जा, मन्थर गति (धीरे धीरे चलना), शरीर की पीतिमा और इष्ट के न प्राप्त होने के कारण विषाद, ये अनेक प्रकार की क्रियाएं उनको सुशोभित करने वाली हो गईं, क्योंकि कामदेव सभी दशाओं में अबलाओं को सुशोभित ही किया करता है।"

यहां पर "किंचिन्निमीलित नेत्रों से अवलोकनादि क्रियाएँ अप्सराओं को शोभित करने वाली बन गईं" यह विशेष बात है जिसका "कामदेव सभी अवस्थाओं में अबलाजनों को विभूषित करने में समर्थ होता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ६२ : "यद्यपि सुरांगनाओं के सभी (हावभावादि) प्रयोग हृदयहारी थे तथापि वे अविचल समाधि से पवित्र चित्त वाले अर्जुन (को मुग्ध करने) के विषय में सफल न हो सके, क्योंकि क्रोध से उद्दीप्त होने पर धीर

पुरुषों के मन में सुख की लिप्सा का स्थान नहीं रह जाता है।"[1]

यहां पर "अप्सराओं की मनोहर चेष्टाएं भी स्थिर समाधि के कारण पवित्र चित्त वाले अर्जुन (को मुग्ध करने) के विषय में सफल नहीं हुईं" इस विशेष बात का "क्रोध से उद्दीप्त धीर पुरुषों के मन में सुख की लिप्सा का स्थान नहीं रह जाता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

सर्ग एकादश

श्लोक ८ : अप्सराएं अर्जुन को लुभाने में अपने को असमर्थ पाकर चली गईं। अतः इन्द्र ने स्वयं उनके पास जाने का निश्चय किया। वे वृद्ध मुनि का वेष धारण करके अर्जुन के समीप गए "इन्द्र के समीप बैठे हुए अर्जुन स्नेह से विभोर हो रहे थे। क्योंकि अपने बान्धव को पहचान न पाने पर भी मनुष्य के मन में बलात् हर्षोद्रेक हो ही जाता है" (अर्जुन इन्द्र के पुत्र थे। अतः यद्यपि अर्जुन उनको पहचान न सके तथापि उनके आत्मज होने के कारण अर्जुन के हृदय में हर्षोद्रेक होने लगा)।

यहां पर "इन्द्र के समीप बैठे हुए अर्जुन स्नेह से विभोर हो गए" इस विशेष कथन का "अपने सम्बन्धी को न पहचान पाने पर भी मनुष्य के हृदय में बलात् हर्षोद्रेक हो ही जाता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक १० : वृद्ध मुनि का वेष धारण करने वाले इन्द्र ने अर्जुन से कहा "तुमने अच्छा किया जो इस अल्पावस्था में ही तपश्चर्या प्रारम्भ कर दी। वैसे तो मुझ जैसे वयस्क व्यक्ति भी विषयों से आकृष्ट हो ही जाते हैं।"

यहां पर "तुमने अच्छा किया जो इस अल्पावस्था में ही तपश्चर्या प्रारम्भ कर दी" इस विशेष बात का "मेरे ऐसे वयस्क व्यक्ति भी विषयों से आकृष्ट हो ही जाते हैं" इस सामान्य कथन से वैधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ११ : मुनि वेषधारी इन्द्र अर्जुन से कहते हैं "तुम्हारी आकृति परम रम्य है, कल्याणकारी गुणों की सम्पत्ति भी तुम्हें मिली हुई है। संसार में सौन्दर्य का मिलना कोई कठिन बात नहीं है, परन्तु गुणों को प्राप्त करना अवश्य ही कठिन है।" (तुममें तो सौन्दर्य और गुण दोनों मिलते हैं, जो तुम्हारे लिए सोने में सुगन्धि का काम देते हैं)।

---

१. यहाँ श्लोकों का अर्थ मात्र दिया गया है। संबधित श्लोकों को परिशिष्ट में देखिए।

यहां पर "अर्जुन की आकृति सुन्दर है तथा गुण की सम्पत्ति भी उनमें विद्यमान है" यह विशेष बात है जिसका "संसार में सौन्दर्य का मिलना कोई कठिन बात नहीं है किन्तु गुणों को प्राप्त करना कठिन काम है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक १८ : वृद्ध मुनि वेषधारी इन्द्र अर्जुन की दृढ़ता की परीक्षा लेते हुए कहते हैं "यह निश्चित प्रतीत हो रहा है कि तुम शत्रु से विजय प्राप्ति की अभिलाषा रखते हो (मोक्ष की नहीं) क्योंकि कहां तो क्रोधसूचक शस्त्र ? और कहां क्षमाशील तपस्वी ?" (अर्थात् शस्त्र तो वही धारण करता है जो शत्रु को जीतने की इच्छा रखता है। मुमुक्षु को तो केवल क्षमा की ही आवश्यकता हुआ करती है) ।

यहां पर "आप निश्चित रूप से विजयाभिलाषी हैं" यह कार्य है जिसका "क्रोधसूचक शस्त्र कहां और क्षमाशील तपस्वी कहां" इस कारण से साधर्म्य से समर्थन होने से यहां कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक २४ : इन्द्र अर्जुन से कहते हैं "सम्पत्तियां कभी भी किसी प्रकार का भेदभाव (ऊँच-नीच का विचार) नहीं रखती हैं। इन सम्पत्तियों के लिए कोई प्रिय नहीं होता है। फिर भी मूढ़ लोग इनमें आसक्त हो जाते हैं क्योंकि प्राणियों का स्वभाव ही विरुद्ध आचरणवाला हुआ करता है।"

यहां पर "किसी से भी प्रेम न करनेवाली सम्पत्तियों पर मूर्ख मनुष्य आसक्त हो जाते हैं" यह विशेष कथन है जिसका "प्राणीजन विरुद्ध आचरण वाले हुआ करते हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ३० : "जिस प्रकार लक्ष्मी चंचला है, उसी प्रकार शरीरधारियों में भी किसी प्रकार का स्थायित्व नहीं है (उनकी मृत्यु निश्चित है)। अतः आप न्याय का हनन न कीजिये क्योंकि सज्जन सर्वदा न्यायपथावलम्बी ही हुआ करते हैं।"

यहां पर "आप भी न्याय का हनन न कीजिये" यह विशेष बात है जिसका "सज्जन सर्वदा न्यायपथावलम्बी ही हुआ करते हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तर-न्यास अलंकार है।

श्लोक ४७ : अर्जुन इन्द्र से कहते हैं "राजा युधिष्ठिर ने बेईमानी से जुआ खेलते हुए अपने राज्य को, स्वयं अपने आपको, हम लोगों को तथा सहधर्मिणी

(स्त्री) को भी दांव पर लगा दिया। (इसमें उनका कोई दोष नहीं है) यह तो होना ही था।"

यहां पर "राजा युधिष्ठिर द्वारा राज्यादिक को जुए में दांव पर लगा देना" एक विशेष बात है जिसका "यह तो होना ही था" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ५३ : अर्जुन इन्द्र से कहते हैं "(दान दाक्षिण्यादि) गुणों के प्रेमी हमारे ज्येष्ठ भ्राता (युधिष्ठिर) ने हम लोगों की दुर्दशा को सहन कर लिया (यह उचित ही था क्योंकि) शत्रु को नाश कर देना कोई बड़ी बात नहीं है किन्तु सज्जनविषयिणी निन्दा अवश्य ही दुर्लभ है।"

यहाँ पर "हमारे ज्येष्ठ भ्राता (युधिष्ठिर) ने हम लोगों की दुर्दशा सहन कर ली (किन्तु सन्धि भंग नहीं किया)" यह विशेष बात है जिसका "शत्रु का नाश सुकर है किन्तु सज्जनविषयिणी निन्दा दुर्लभ है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक ५५ : अर्जुन इन्द्र से कहते हैं "धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ हम लोगों की मित्रता ही शत्रुता की उत्पत्ति का कारण है। दुष्टों की मित्रता नदी के तट-प्रदेश की छाया के समान होती है जिसके सेवन से भयङ्कर अनर्थ होने की सम्भावना बनी रहती है।"

यहाँ पर "धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ मित्रता ही शत्रुता की उत्पत्ति का कारण है" इस विशेष कथन का "असज्जनों की मित्रता तट-प्रदेश की छाया के समान अनर्थकारिणी होती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक ७६ : अर्जुन इन्द्र से कह रहे हैं "आप मुझे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पूर्व ही धर्म के विरुद्ध मुनि की वृत्ति को पालन करने का उपदेश क्यों दे रहे हैं? मनु इत्यादि धर्माचार्यों ने एक तारतम्य से ही उन-उन आश्रमों में प्रवेश करने की आज्ञा दी है न कि बिना किसी क्रम के।"[1]

यहाँ पर "आप मुझे गृहस्थाश्रम के पूर्व ही मुनि की वृत्ति का पालन करने का उपदेश क्यों दे रहे हैं" यह एक विशेष बात है जिसका "पूर्वजों के द्वारा

१. यहाँ श्लोकों का अर्थमात्र दिया गया है। सम्बन्धित श्लोकों को परिशिष्ट में देखिए।

क्रमानुसार ही आश्रमों में प्रवेश का निर्देश किया गया है व्यतिक्रम से नहीं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

द्वादश सर्ग

श्लोक ३ : "शरीर और इन्द्रियों को सन्तप्त करनेवाले उपवासादि क्लेशों के निरन्तर करते रहने पर भी अर्जुन हिमालय के समान अचल ही रहे क्योंकि बड़े लोगों के धैर्य की कोई सीमा नहीं हुआ करती है।"

यहां पर "अर्जुन का उपवासादि को करते रहने पर भी हिमालय के समान अचल होना" एक विशेष बात है जिसका "बड़े लोगों के धैर्य की कोई सीमा नहीं हुआ करती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने से यह सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ४ : "उस तपस्वी अर्जुन का मन समीपवर्ती पके हुए सुगन्धित फलों और शीतल जल को देखकर चंचल नहीं हुआ। पुण्यात्मा मनुष्यों की तपस्या ही अमृत का कार्य करती है।"

यहां पर "अर्जुन का मन पके हुए फलों तथा शीतल जल में आसक्त नहीं हुआ (अपितु तपस्या में लगा रहा)" यह एक विशेष बात है जिसका "पुण्यात्मा मनुष्यों की तपस्या ही अमृत का कार्य करती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने से सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ६ : "तपस्या से अर्जुन का शरीर क्षीण हो चला था। इतने पर भी वह तीनों लोकों में उत्कर्ष को जीतनेवाले थे। उनके शरीर को देखने से तत्वज्ञ लोगों को भी भय उत्पन्न हो जाता था। ऐसा कौन-सा कार्य है जिसे मनस्वी जन सरलतापूर्वक समाप्त नहीं कर डालते हैं?"

यहां पर "अर्जुन ने अपने क्षीण शरीर से तीनों लोकों को जीत लिया था और उनका शरीर तत्वज्ञानी लोगों को भी भय उत्पन्न करता था" यह विशेष बात है जिसका "कौन ऐसा कार्य है जो मनस्वियों के लिए सरल नहीं है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक १० : "नियमित स्नान के लिए प्रस्थान करते समय क्षीणकाय अर्जुन के पादन्यास के भार से दबता हुआ हिमालय पृथ्वी में प्रविष्ट होता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था। गुरुता तो उसी पदार्थ में होती है जिसमें कुछ अन्तःसार रहता है, बाह्य स्थूलता से युक्त पदार्थ में नहीं।"

यहां पर "अर्जुन के दुर्बल शरीर के पाद-विक्षेप से हिमालय पृथ्वी में धंसता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था" यह एक विशेष बात है जिसका "अन्तः-सारादि गुण ही गुरुता के कारण होते हैं बाहरी मोटाई नहीं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य होने के कारण यहां सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक २९ : मुनियों ने भगवान शंकर के समीप जाकर अर्जुन की कठोर तपस्या का वर्णन करते हुए कहा "वह तपस्वी (अर्जुन) अपने पराक्रम से देवता और दैत्यों के साथ-साथ इस विश्व को जीतकर नष्ट कर डालेगा। संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो तपस्वियों के लिए दुष्कर हो।"

यहां पर "अर्जुन अपनी तपस्या के बल से इस समस्त पृथ्वी के देवता और दानवों को जीत लेगा" यह एक विशेष बात है जिसका "तपस्वियों के लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ४६ : "(किरातों की सेना के) भय से त्रस्त होकर भागते समय मार्ग में पशु-पक्षियों का समूह अपनी पारस्परिक स्वाभाविक शत्रुता के कारण क्रुद्ध नहीं हुआ। अत्यन्त भय से उत्पन्न होनेवाली आकस्मिक विपत्तियां स्वाभाविक शत्रुता को नष्ट कर दिया करती हैं।"

यहां पर "किरातों की सेना से भयभीत पशु-पक्षियों का पारस्परिक नैसर्गिक शत्रुता को छोड़ देना" एक कार्य है जिसका "विपुल त्रास से पूर्ण आकस्मिक विपदाएँ स्वाभाविकी शत्रुता को नष्ट कर देती हैं" इस कारण से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तर-न्यास है।

त्रयोदश सर्ग

श्लोक ६ : अर्जुन शूकर शरीरधारी मूक राक्षस को देखकर कहता है "यह शूकर नहीं है, किन्तु कोई अन्य ही मेरे प्राणों का घातक है, क्योंकि इसको देख देखकर मेरा मन पुनः पुनः क्षुब्ध हो उठता है। चित्त का प्रसन्न होना और मलिन होना ही मित्र और शत्रु का सूचक हुआ करता है।"

यहां पर "इस शूकर के विषय में मेरा मन पुनः पुनः क्षुब्ध हो रहा है अतएव यह निश्चित ही मेरे प्राणों का घातक है" इस विशेष कथन का "निर्मल अथवा मलिन होता हुआ चित्त ही मित्र अथवा शत्रु की सूचना दे देता है"

१. यहां श्लोकों का अर्थ मात्र दिया गया है। सम्बन्धित श्लोकों को परिशिष्ट में देखिए।

इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ७ : "मैं तपस्वी और निरपराध हूँ। अतः मुझे भय किसका ? यह अहंकार कल्याण करनेवाला नहीं हो सकता है। दूसरों की उन्नति को देखकर ईर्ष्या करनेवाले दुर्जनों के लिए कौन ऐसी (धर्म सम्बन्धिनी) सीमा है जिसका उल्लंघन वह नहीं कर सकते हैं।"

यहां पर "मैं निरपराध मुनि हूँ। मुझे किसी से भय नहीं इत्यादि प्रकार का अभिमान कल्याण के लिए नहीं है" कार्य है जिसका "ईर्ष्यालु दुष्टों के लिए किसी भी नियम का उल्लंघन करना" इस कारण से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ८ : "यह शूकर (दो में से एक तो है ही) या दानव है या राक्षस। वन्य प्राणियों में इतना बल कहां ? मेघ के समान काला यह शूकर सम्पूर्ण पर्वतराज को आक्रान्त करके उसे हिलाता हुआ सा प्रतीत हो रहा है।"

यहां पर "शूकर का बलाधिक्य रूप" कारण का "उसके हिमालय कम्पन रूप" कार्य से साधर्म्य से समर्थन हो रहा है। अतः यहां पर कार्य से कारण का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक १२ : "(मुझे इससे कोई प्रयोजन नहीं) यह चाहे दैत्य हो अथवा दानव। अपने बल के अभिमान में चूर यह मेरे ही विनाश के लिये दृढ़ निश्चय है। अतः मुझे इसका वध अवश्य कर देना चाहिए। शत्रु का उन्मूलन कर देने में ही सबसे बड़ा लाभ है।"

यहाँ पर "यह शूकर मुझको मारना चाहता है। अतः यह अवश्यमेव मेरे द्वारा वध्य है" इस कार्य का "शत्रु के नाश को ही सबसे बड़ा लाभ कहा गया है" इस कारण से साधर्म्य से समर्थन होने से यहाँ कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक ३२ : अर्जुन शूकर के शरीर में विद्ध बाण को लेने के लिए दौड़ पड़े। इसी का वर्णन करते हुए कवि कहता है "लक्ष्य भेद में सफल होने के कारण उस बाण की तीक्ष्णता स्पष्ट हो चुकी थी। अतएव अर्जुन बहुत से बाणों के पास होने पर भी उस बाण को लेने के लिए दौड़ पड़े। कारण यह है कि कृतज्ञ पुरुषों के लिए कृतकर्मा पुरुष जितना प्रिय होता है उतना भविष्य में उपकार करनेवाला व्यक्ति प्रिय नहीं हो सकता है।"

यहाँ पर "अनेकों बाणों के होने पर भी अर्जुन शूकर को भेदन करनेवाले बाण को लेने के लिए दौड़ पड़े" इस विशेष बात का "कृतज्ञ व्यक्ति को भविष्य में उपकार करनेवाला व्यक्ति उतना प्रिय नहीं होता है जितना कि कृतकर्मा" इस

सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ४० : "आपको विजयलक्ष्मी प्राप्त होने में कोई आश्चर्य नहीं है। मुक्ति भी आपके लिए बहुत दूर नहीं है। जिसने रजोगुण और तमोगुण पर विजय प्राप्त कर लिया है वह किस अभीष्ट वस्तु का पात्र नहीं है ? (अर्थात् वह तो सभी अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर सकता है) ।"

यहाँ पर "अर्जुन को विजयश्री और मुक्ति प्राप्त होने में कोई आश्चर्य नहीं है" इस विशेष कथन का "जिसने रजोगुण और तमोगुण को जीत लिया है वह सर्वाधिक अभिलषित वस्तु को प्राप्त कर सकता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक ६३ : "आपने मेरे स्वामी के द्वारा वध किए हुए मृग का जो वध किया है उसे उन्होंने 'ब्राह्मण लोग स्वभावतः चंचल होते हैं' यह सोचकर सहन कर लिया है। अविवेकपूर्वक कार्य करनेवाले मनुष्यों का अज्ञान उनके दोषों को छिपा लिया करता है।"

यहाँ पर "अर्जुन का किरातराज के द्वारा मारे हुए शूकर को पुनः मारना तथा किरातराज का उसको मुनिगत चांचल्य समझकर क्षमा कर देना" एक विशेष बात है जिसका "अविवेकपूर्वक कार्य करनेवाले मनुष्यों की अज्ञता ही उनके दोषों को छिपा लेती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक ६४ : "प्रतिष्ठित वंश में जन्म, ऋषियों की वेशभूषा और तपश्चर्या इन सबके विरुद्ध व्यवहार आप न करें, क्योंकि कुमार्गगामी दुर्बुद्धि पुरुष को दोनों लोकों को नष्ट करनेवाली विपत्ति आ दबोचती है।"

यहाँ पर "आप अपने जन्म, वेष और तप के विरोधी आचरण को न करें" यह कार्य है जिसका "कुमार्गगामी दुर्बुद्धि पुरुष को दोनों लोकों को नष्ट करने-वाली विपत्ति आ घेरती है" इस कारण से साधर्म्य से समर्थन होने की वजह से यहां कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक ६६ : "आप सज्जन हैं अतः आपको चपलता का परित्याग कर देना चाहिए। कोई भी सदैव सहन नहीं करेगा। बार-बार अनुचित कार्य करनेवाले पुरुष धैर्यशालियों को भी उसी प्रकार क्षुभित कर देते हैं जिस प्रकार प्रलयकालीन झंझावात विशाल समुद्रों को भी क्षुभित कर देता है।"[1]

---

१. यहाँ श्लोकों का अर्थमात्र दिया गया है। सम्बन्धित श्लोकों को परिशिष्ट में देखिए।

यहाँ पर "आप सज्जन हैं अतः चपलता का परित्याग कर दें, बार-बार कोई सहन नहीं करेगा" इस विशेष बात का "बार-बार अनुचित कार्य करनेवाले व्यक्ति धैर्यशालियों को भी क्षुब्ध कर देते हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने से यहां सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

चतुर्दश सर्ग

श्लोक १ : "तदनन्तर समुद्र के जल से प्रताड़ित पर्वत की तरह किरात के उद्धत वचनों से आहत हुए अर्जुन क्रुद्ध होकर भी अधीर नहीं हुए क्योंकि सज्जनों का अन्तःकरण सदा अटल रहता है।"

यहां पर "किरात के उद्धत वचनों से आहत हुए अर्जुन क्रुद्ध होने पर भी अधीर नहीं हुए" इस विशेष बात का "सज्जनों का अन्तःकरण अटल रहता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ९ : "प्रक्षित बाण का अन्तर्हित होना अवश्यम्भावी है। उचित तो यह है कि पर्वत पर उसको ढूँढ़ना चाहिए। इस विषय में आर्यजनों का उल्लंघन उचित नहीं है क्योंकि सज्जनों का उल्लंघन अनर्थकारी हुआ करता है।"

यहां पर "सज्जनों का उल्लंघन उचित नहीं है" यह कार्य है, जिसका "सज्जनों का उल्लंघन अनर्थकारी हुआ करता है" इस कारण से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक ११ : "यदि सज्जनाचरण को प्रमाण मानते हो तो फिर किसी अवगुण के न होते हुए भी तुमने मेरी इस प्रकार की अवहेलना क्यों की? किसी व्यक्ति की निन्दा में प्रवृत्त न होने वाली सज्जनों की वाणी गुणों का ही अभिभाषण किया करती है।"

यहां पर "अवगुण के न होते हुए भी आपके द्वारा हमारी अवहेलना की गई" यह विशेष बात है जिसका "सज्जनों की वाणी सदा गुण का ही अभिभाषण किया करती है" इस सामान्य कथन से वैधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक १४ : "किसी को अपने पास आने का अवसर न देना इस प्रकार के व्रत का उपदेश महर्षि व्यास ने दिया है। यह मृग मेरे वध का इच्छुक था अतः मैंने इसका वध किया है क्योंकि व्रत की रक्षा करना सज्जनों का आभूषण है।"

यहां पर "मैंने जिघांसु इस मृग को मारकर महर्षि द्वारा निर्दिष्ट व्रत की रक्षा की" इस विशेष का "व्रत की रक्षा करना सज्जनों का आभूषण है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक १९ : "तुम्हारा राजा असत्य का आश्रय लेकर अप्राप्य तथा विरुद्ध फलदायी मनोरथ को बलपूर्वक प्राप्त करना चाहता है। दुर्नीति की भीषणता से परिचित पुरुष की भी बुद्धि विनाशकाल में व्यामोहोत्पादिका होती है।"

यहां पर "तुम्हारा राजा बलपूर्वक विरुद्ध फलदायो मनोरथ को सिद्ध करना चाहता है" इस विशेष बात का "दुर्नीति की भीषणता से परिचित पुरुष की भी बुद्धि विनाशकाल के सन्निहित होने पर विपरीत हो जाती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक २१ : "तुमने जो यह कहा, वे किरातराज आपके लिए उपयुक्त मित्र हैं, यह भी ठीक नहीं क्योंकि जो तपस्वी पर मनमाना दोषारोपण करता है वह युक्त सखा कैसे हो सकता है? गुणा के अर्जन के उत्कर्ष के विरुद्ध बुद्धि वाले असज्जन लोग स्वभाव से ही सज्जनों के शत्रु होते हैं।"

यहां पर "किरातनाथ तपस्या करते हुए व्यक्ति पर मनमाना दोषारोपण करते हैं अतः वे उपयुक्त मित्र नहीं हो सकते हैं" इस विशेष बात का "गुणार्जन के उत्कर्ष के विरुद्ध बुद्धिवाले असज्जन लोग स्वभाव से ही सज्जनों के शत्रु होते हैं।" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने से सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक २२ : "वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करने के योग्य कहां हम राजा लोग! और कहां पशुओं की हिंसा करनेवाला निकृष्ट जाति का तुम्हारा स्वामी! नीचों के साथ उच्च व्यक्तियों की मित्रता सम्भव नहीं। क्योंकि हाथी शृगालों के साथ मैत्री नहीं किया करते हैं।"

यहाँ पर "नीचों के साथ उच्च व्यक्तियों की मित्रता नहीं होती है" इस सामान्य कथन का "हाथी शृगालों के साथ मित्रता नहीं किया करते हैं" इस विशेष बात से साधर्म्य होने से यहाँ विशेष से सामान्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक ४३ : "शत्रु लोग (प्रमथ गण) पहले अपने-अपने पराक्रम का वर्णन करने लगे। तत्पश्चात् तपस्वी अर्जुन के प्रभाव से बल के क्षीण हो जाने

पर वहीं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए। क्योंकि अत्यन्त प्रताप पौरुष को नष्ट कर डालता है।"

यहाँ पर "अर्जुन के प्रभाव से प्रमथगण का बल क्षीण हो गया" यह विशेष बात है जिसका "अत्यन्त प्रताप पौरुष को नष्ट कर डालता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक ४४ : "तदनन्तर प्रमथगणों ने अपने आपको पृथक्-पृथक् जीतने में असमर्थ पाकर एक साथ मिलकर अर्जुन पर आक्रमण कर दिया। सहायता से सिद्ध होने वाले कार्य महाप्रतापी मनुष्यों को भी संघशक्ति से काम लेने की अनुमति देते हैं।"

यहाँ पर "प्रमथ गणों ने अपने को अलग-अलग जीतने में असमर्थ समझ कर एक साथ मिलकर अर्जुन पर प्रहार कर दिया" यह एक विशेष बात है जिसका "सहायता से सिद्ध होनेवाली कार्यसिद्धियाँ महानुभावों को भी संघशक्ति से काम लेने की अनुमति देती हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

श्लोक ५५ : "अर्जुन के द्वारा पहले छोड़े हुए बाणों ने शत्रुओं के कवच को तोड़कर शरीर पर जिन घावों को पैदा कर दिया था उन्हीं घावों पर बाद में प्रक्षित बाण नहीं गिरे। महात्मा जन पीड़ित को पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं।"[1]

यहाँ पर "अर्जुन के पूर्व प्रक्षित बाणों द्वारा पैदा किए गए व्रणों पर बाद में फेंके गए बाणों का न गिरना" एक विशेष बात है जिसका "महात्मा जन पीड़ित को पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

पंचदश सर्ग

श्लोक २ : "प्रमथगण पुरोवर्ती भगवान शंकर को न देखते हुए संग्राम से पराङ्मुख हो गए क्योंकि आपत्ति के समय में घबड़ाहट के कारण मन मोहित सा हो जाता है।"

यहां पर "प्रमथ गणों का पुरोवर्ती भगवान् शंकर को न देखना" कार्य है जिसका "आपत्ति के समय घबड़ाहट के कारण मन का मोहित हो जाना" इस

---

१. यहाँ श्लोकों का अर्थ मात्र दिया गया है। सम्बन्धित श्लोकों को परिशिष्ट में देखिए।

कारण से साधर्म्य से समर्थन होने से यहाँ कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ६ : "अर्जुन ने भय से विह्वल होकर भागते हुए उन प्रमथगणों का मन्द गति से ही पीछा किया क्योंकि महान् पराक्रमशाली व्यक्ति दुःखी लोगों को बहुत अधिक पीड़ित नहीं किया करते हैं।"

यहां पर "अर्जुन ने भय से विह्वल प्रमथ गणों का अनुसरण मन्दगति से किया" यह विशेष बात है जिसका "पराक्रमशाली लोग दुःखी व्यक्तियों को बहुत अधिक पीड़ित नहीं करते हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

षोडश सर्ग

श्लोक १९ : "यह किरात धनुष की प्रकृष्ट टंकार से आकाश (नारायण के मध्यम स्थान) को दो भागों में विभाजित करता हुआ सा प्रतीत हो रहा है। निश्चय ही यह किरात वैसा नहीं है जैसा कि इसका वेष दृष्टिगोचर हो रहा है अर्थात् वेषभूषा से ही यह किरात है वास्तव में कोई अन्य व्यक्ति है) क्योंकि चेष्टा गुप्त वस्तु को भी प्रकाशित कर देती है।

यहां पर "यह किरात अपने धनुष की टंकार से आकाश को दो भागों में विभाजित करता हुआ सा प्रतीत हो रहा है। अतः यह वेषभूषा से ही किरात है वास्तविक रूप से कोई अन्य व्यक्ति है" यह विशेष बात है जिसका "चेष्टा गुप्त वस्तु को भी प्रकाशित कर देती है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां सामान्य से विशेष का समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक २४ : "इस रणमत्त असाधारण पुरुष (किरात) का पराक्रम अस्त्र (ब्रह्मास्त्र) के द्वारा निवारण कर देना चाहिए। क्योंकि शत्रु की अल्प वृद्धि भी उसी प्रकार महान् अपकार कर देती है जिस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में उपेक्षित रोग (अन्त में) प्राणघातक बन जाता है।"

यहां पर "इस रणमत्त असाधारण पुरुष का पराक्रम शस्त्र से दूर कर देना चाहिए" यह कार्य है जिसका "थोड़ी भी शत्रु की वृद्धि महान् अपकार कर देती है" इस कारण से साधर्म्य से समर्थन होने से यहां कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

---

१. यहाँ श्लोकों का अर्थ मात्र दिया गया है। सम्बन्धित श्लोकों को परिशिष्ट में देखिए।

श्लोक ६१ : "मूल के छिन्न भिन्न हो जाने पर महान् तेजस्वी (व्यक्ति) भी अवश्य नाश को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार जलसमूह के द्वारा संघात के नष्ट कर दिए जाने पर वह पावकास्त्र पराभूत हो गया।"[1]

यहां पर "जड़ के छिन्न हो जाने पर महान् तेजस्वी (मनुष्य) भी नाश को प्राप्त हो जाता है" यह एक सामान्य कथन है जिसका "जलौघ से संहति के नष्ट हो जाने पर वह पावकास्त्र भी नष्ट हो गया" इस विशेष बात से साधर्म्य से समर्थन होने से यहां विशेष से सामान्य का समर्थन रूप अर्थान्तर न्यास है।

सप्तदश सर्ग

श्लोक २३ : "अर्जुन से प्रसन्न भगवान् शंकर को क्रोध नहीं आया। परम पुरुष में विकार ही कहां ? केवल आकारमात्र में यह विषमता थी। महान् व्यक्तियों की चेष्टा किसी चिह्न विशेष से व्यक्त नहीं हुआ करती है।"

प्रस्तुत उदाहरण में दो अर्थान्तरन्यास प्रयुक्त हैं। प्रथम पंक्ति में "शंकर को क्रोध न आना" विशेष है जिसका समर्थन "श्रेष्ठ पुरुष में विकार कहां ?" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

इसी श्लोक की द्वितीय पंक्ति में "विना क्रोध के भी आकार में विषमता का होना" विशेष है जिसका "महान् पुरुषों की चित्तवृत्ति चिह्न द्वारा परिलक्षित नहीं होती" इस सामान्य कथन द्वारा साधर्म्य से समर्थन होने से सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक ४० : "तूणीर के रिक्त हो जाने पर अर्जुन को जो सन्ताप हुआ वह बाण के नाशरूप दुर्निमित्त से नहीं हुआ, क्योंकि महात्मा लोग अपनी विपत्ति पर ध्यान न देकर विपद्ग्रस्त उपकारी वर्ग पर ध्यान देते हैं।"

यहां पर "तूणीर के रिक्त हो जाने पर जो सन्ताप हुआ वह सन्ताप बाण के नाशरूप दुर्निमित्त से नहीं हुआ" इस विशेष बात का "महात्मा लोग अपनी विपत्ति पर ध्यान न देकर विपद्ग्रस्त उपकारी वर्ग पर ध्यान देते हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहां सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

श्लोक ४२ : "अर्जुन का तरकशों ो पीछे रखना उस समय उन

---

१. यहाँ श्लोकों का अर्थमात्र दिया गया है। सम्बन्धित श्लोकों को परिशिष्ट में देखिए।

(तरकशों) के लिए उपकारक हो गया क्योंकि अनुचर वर्ग से जितनी सम्भावना की जाती है उसमें यदि न्यूनता आ जाय तो उस समय उनको (अनुचरों को) स्वामी के सम्मुख नहीं जाना चाहिए ।"[१]

यहां पर "दोनों तरकशों का पृष्ठभाग में स्थित होना उनके लिए उपकारी हो गया" यह कार्य है जिसका "अनुचरवर्ग से जितने कार्य की आशा की जाती है यदि उसमें न्यूनता आ जाए तो अनुचरों को स्वामी के सम्मुख नहीं जाना चाहिए" इस कारण से साधर्म्य से समर्थन होने से यहां कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है ।

अष्टादश सर्ग

श्लोक ३ : "अर्जुन ने शिव की भुजाओं के आघात से उत्पन्न होने वाले बड़े-बड़े व्रणों को सुख के समान समझा, अर्थात् यद्यपि वे दुःखोत्पादक थे तो भी उन्हें सुखकर ही माना । क्योंकि कौन ऐसा पुरुष है जो पराक्रमशाली तेजस्वी पुरुषों का अनुकरण मात्र करने में समर्थ है, आचरण करना तो दूर रहा ।"

यहाँ पर "अर्जुन (जो कि सामान्य व्यक्ति हैं) ने विशाल व्रणों को सुख के समान समझा (अर्थात् असामान्य व्यक्ति का सा आचरण किया)" यह एक विशेष बात है जिसका "सामान्य व्यक्ति पराक्रमशाली तेजस्वी (अर्थात् असामान्य) पुरुषों का आचरण नहीं कर सकते हैं" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ पर सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है ।

श्लोक १४ : "भगवान् शंकर जितना अर्जुन के धैर्य और साहस से प्रसन्न हुए उतना तपश्चर्या से नहीं । क्योंकि सत्पुरुषों का पराक्रम (तप सेवादि) गुणों की अपेक्षा अधिक उपकारक होता है ।"[२]

यहाँ पर "भगवान् शंकर अर्जुन के तप से उतना प्रसन्न नहीं हुए जितना पराक्रम से" इस विशेष कथन का "सज्जनों का पराक्रम तपसेवादि गुणों की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है" इस सामान्य कथन से साधर्म्य से समर्थन होने के कारण यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है ।

१–२. यहाँ श्लोकों का अर्थमात्र दिया गया है । सम्बन्धित श्लोकों को परिशिष्ट में देखिए ।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारवि को कार्यकारणभावमूलक अर्थान्तरन्यास की अपेक्षा सामान्यविशेषभावमूलक अर्थान्तरन्यास अधिक प्रिय था। किरातार्जुनीय के १२२ अर्थान्तरन्यासों में केवल २९ ही कार्यकारणभावमूलक हैं, बाकी ९३ सामान्यविशेषभावमूलक। इन सामान्यविशेषभावमूलक अर्थान्तरन्यासों में भी अधिकांश स्थलों में सामान्य से विशेष का समर्थन किया गया है। तर्कसंगत भी यही अधिक है। समर्थन के द्विविध प्रकारों में से अधिकतर साधर्म्य से ही समर्थन है। समर्थन के उद्देश्य से प्रयुक्त किए गए अलंकार में किसी भी प्रकार की वक्रता की स्थिति समर्थन के बल को अवश्य ही क्षीण करती अतः यदि भारवि ने वैधर्म्य की अपेक्षा साधर्म्य को ही प्रधानता दी है तो कोई आश्चर्य नहीं।

यद्यपि इन अर्थान्तरन्यासविशिष्ट श्लोकों को देखने से ज्ञात होता है कि भारवि अर्थान्तरन्यास के प्रयोग में पूर्णरूपेण पटु थे और सम्भवतः इनकी यही सफलता किरातार्जुनीय को अर्थगौरव बनाती हुई भारवि के अर्थगौरव की ख्याति का कारण बनी। किन्तु फिर भी किरातार्जुनीयम् में दो-तीन स्थल ऐसे हैं जहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार के औचित्य के सम्बन्ध में शंका की जा सकती है। उदाहरण के लिए छठे सर्ग का सैंतीसवाँ श्लोक देखिए :

विगणय्य कारणमनेकगुणं निजयाथवा कथितमल्पतया।
असदप्यदः सहितुमर्हसि नः क्व वनेचराः क्व निपुणा यतयः॥

यह श्लोक अर्थान्तरन्यास अलंकार के परिधान में पूर्णतया परिवेष्टित है। इसमें अर्थान्तरन्यास की सम्पूर्ण शर्तें घटित होती हैं किन्तु क्या कोई चारुत्व भी है ? उत्तर है नहीं। अलंकारों के लिए जो शोभाधायकत्व तथा कविप्रतिभोत्थापितत्व का विधान है क्या उनमें से यहाँ किसी की भी स्थिति है ? इसी प्रकार छठे सर्ग के चवालिसवें तथा ग्यारहवें सर्ग के अठारहवें श्लोक में भी अर्थान्तरन्यास का औचित्य विचारणीय है।

भारवि के अर्थान्तरन्यासों की परिमाण की दृष्टि से विवेचना

परिमाण की दृष्टि से भी किरातार्जुनीयम् के अर्थान्तरन्यास सर्वाधिक ठहरते हैं। इन अर्थान्तरन्यासों की संख्या के सम्बन्ध में विचार तीन प्रकार से किया जा सकता है :

(१) किरातार्जुनीय के सम्पूर्ण श्लोकों की दृष्टि से।

(२) किरातार्जुनीय में प्रयुक्त अन्य अलंकारों की दृष्टि से।

(३) संस्कृत साहित्य के अन्य ग्रन्थों में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की दृष्टि से।

किरातार्जुनीय महाकाव्य १०३० श्लोकों में उपनिबद्ध है। इनमें से ५४८

श्लोक साठ प्रकार के अलंकारों से युक्त हैं।[1] उनमें भी अधिकांश अलंकारों का प्रयोग तो एक या दो बार ही हुआ है। केवल ग्यारह अलंकार ही ऐसे हैं जिनका प्रयोग दस या अधिक बार हुआ है।[2] समस्त अलंकारों में अर्थान्तरन्यास ही एक ऐसा अलंकार है जिसका प्रयोग सर्वाधिक बार हुआ है जो कि किरातार्जुनीयम् के सम्पूर्ण श्लोकों की दृष्टि से लगभग ११ प्रतिशत है तथा किरातार्जुनीय के अलंकृत श्लोकों की दृष्टि से लगभग २२ प्रतिशत।

अर्थान्तरन्यास अलंकार के प्रयोग के सम्बन्ध में जब भारवि की तुलना अन्य कवियों से करते हैं तो भारवि इस दृष्टि से भी सर्वप्रथम सिद्ध होते हैं। स्पष्टता के लिए निम्नलिखित तालिका को देखिए :[3]

कवि	ग्रन्थ का नाम	कुल श्लोक	कुल अर्थान्तरन्यास-युक्त श्लोक
भारवि	किरातार्जुनीयम्	१०३०	११९
कालिदास	रघुवंश	१५४९	५८
	कुमारसम्भव	५२२	३७
	मेघदूत	११७	१६
	मालविकाग्निमित्रम्	९५	२
	विक्रमोर्वशीयम्	१६०	३
	शाकुन्तलम्	१९२	१४
अश्वघोष	बुद्धचरितम्		१४
	सौन्दरनन्द		६
श्रीहर्ष	नैषधीयचरितम्	२८२७	६७
माघ	शिशुपालवध		८५
भट्टि	भट्टिकाव्य		५

१. विविध अलंकारों के प्रयोग की तालिका परिशिष्ट में देखिए।

२. अर्थान्तरन्यास ११९, उत्प्रेक्षा १०३, उपमा ५९, संकर ३२, काव्यलिंग २५, स्वभावोक्ति २१, अतिशयोक्ति २०, संसृष्टि १६, निदर्शना १४, रूपक १४, भ्रान्तिमान १० श्लोकों में निबद्ध हैं। विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट देखिए।

३. तालिका में निर्दिष्ट कवियों के काव्यों में एवं अन्य अनेक काव्यों और नाटकों में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के विशिष्ट विवरण के परिशिष्ट देखिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारवि ने न केवल अपने महाकाव्य में ही अन्य अलङ्कारों की अपेक्षा अर्थान्तरन्यास अलंकार का सर्वाधिक प्रयोग किया है बल्कि संस्कृत साहित्य के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा भी किरातार्जुनीयम् में सबसे अधिक अर्थान्तरन्यास अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। केवल कालिदास का मेघदूत काव्य ही इसका अपवाद है जहाँ इसका प्रयोग ११७ श्लोकों में १६ बार हुआ है जो कि कुल श्लोक संख्या की दृष्टि से लगभग १३.६ प्रतिशत है।

द्वितीय अध्याय

किरातार्जुनीयम् में काव्यत्व और अर्थान्तरन्यास अलंकार

आचार्य मम्मट के अनुसार भावों की अभिव्यक्ति के तीन प्रमुख मार्ग हैं।[1]

(१) प्रभुसम्मित

(२) सुहृत्सम्मित

(३) कान्तासम्मित

श्रद्धा अथवा भय के कारण भले ही प्रभुसम्मित वाक्य भी ग्राह्य हो जाते हों; लज्जा, संकोच अथवा दबाव के कारण सुहृत्सम्मित वाक्य भी उपादेय हो जाते हों, किन्तु किसी भी दृष्टि से वे कान्तासम्मित उपदेश अर्थात् काव्य की तुलना में नहीं ठहर पाते। इसमें यह विलक्षणता इसलिये है कि यह काव्य है, कवि की कृति है, उसकी कृति है, जो अलौकिक भावसंयोजना में निपुण हुआ करता है। इसमें न तो शब्द का महत्त्व है और न अर्थ का वरन् इसमें एकमात्र रस आनन्द की वर्णना और चर्वणा का ही प्राधान्य रहा करता है। यही कारण है कि काव्य के अध्ययन तथा संचयन में जो आनन्द है वह अन्यत्र कहीं नहीं। काव्य का स्वरूप वस्तुतः भाव सम्पन्न प्रेयसी सा होता है, जो प्रतिक्षण, प्रतिपल स्वयं को समर्पित करने को प्रस्तुत हो। ऐसी प्रेयसी, जब वह सुन्दर वेषभूषा तथा अलंकारों से सुसज्जित हो तो उसकी मनोहारिता का कहना ही क्या? ठीक उसी प्रकार काव्य भी यदि सुन्दर शैली में निबद्ध हो तथा रस परिपोषक 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' अलंकारों से युक्त हो, तो वह भी अपनी मनोहारिता में अनुपम होता है। भारवि का काव्य भी मनोरम शैली और अलंकारों की सज्जा के कारण कुछ ऐसा ही बन पड़ा है। लगभग ६० से अधिक अलंकारों से अलंकृत भारवि की कविता में अर्थान्तरन्यास अलंकार एकावली (६४ मोतियों की माला) सा अपना एक अप्रतिम ही सौन्दर्य रखता है। भारवि को यद्यपि अर्थान्तरन्यास की भांति उत्प्रेक्षा और उपमा अलंकार भी अत्यधिक प्रिय हैं,

---

१ प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्। काव्यप्रकाश।

उनका सौन्दर्य भी कविताकामिनी के आकर्षण में अभिवृद्धि करते हैं, तथापि वे अर्थान्तरन्यास की समता नहीं कर पाते। इसका मुख्य कारण है कि अर्थान्तरन्यासों से जहां एक ओर उनकी मान्यताएं प्रकट हुई हैं, वहीं साहित्यिक सौन्दर्य में कोई कमी नहीं आने पाई है, उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित श्लोकों को देखा जा सकता है :

प्रतिदिशमभिगच्छताभिमृष्टः ककुभविकाससुगन्धिनानिलेन ।
नव इव विबभौ स चित्तजन्मा गतधृतिराकुलितश्च जीवलोकः ।। १०।२१

प्रत्येक दिशा में संचरित होता हुआ पवन विकसित अर्जुन के पुष्प की सुरभि से सुगन्धित हो प्राणिमात्र को तृप्त कर रहा है। सब के हृदय मनोजमय हो रहे हैं। मानों उस वायु ने ही मनसिज को नवीनता से परिवेष्टित कर दिया हो, तथा फलस्वरूप जीवलोक धैर्यहीन हो उठा हो। प्रस्तुत श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार प्रकृति की मनोहारिता की अभिव्यक्ति में अवश्य ही सफल है।

धृतबिसवलयावलिर्वहन्ती कुमुदवनैकदुकूलमात्तबाणा ।
शरदमलतले सरोजपाणौ घनसमयेन वधूरिवाललम्बे ।। १०।२४

"मृणाल तन्तु रूप कंकण को तथा कुमुदिनी के वनरूप वस्त्र को धारण करती हुई शरद् रूपी वधू के कोमल करों का आलम्बन वर्षा ऋतु रूपी वर ने किया।" यहां ऋतु संधि के प्रसंग में श्लेषमूलक अतिशयोक्ति तथा उपमा का सांकर्य निस्सन्देह सराहनीय है, किन्तु :

समदशिखिरुतानि हंसनादैः कुमदवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या ।
श्रियमतिशयिनीं समेत्य जग्मुर्गुणमहतां महते गुणाय योगः ।। १०।२५

"मत्त मयूरों का कलकूजन राजहंसों के विराव के साथ तथा कुमुद के वन कदम्ब पुष्प की वृष्टि के साथ होकर अनुपम शोभा धारण करने लगे, क्योंकि उत्कर्ष गुणों का संयोग अतुलनीय गुणों का पोषक होता ही है।" इस श्लोक में ऋतु सन्धि सम्बन्धी सौन्दर्य के चित्रण के साथ ही साथ अर्थान्तरन्यास के माध्यम से अकथ भावों को भी सहृदय मानस में कवि ने स्थापित कर दिया है, जो उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा द्वारा किसी भी प्रकार संभव नहीं।

अर्थान्तरन्यास के अतिरिक्त अन्य विविध अलंकारों की योजना में भी भारवि कभी असफल नहीं रहे। भारवि की निदर्शना में यह अनूठी कल्पना दर्शनीय है :

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः ।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ।।
५।३९

"गुलाब (स्थल कमल) के वन से उड़कर गुलाब के फूलों का पराग आकाश में छिटक गया है, हवा उसे समस्त दिशाओं में विकीर्ण कर मण्डलाकार बना देती है और मण्डलाकृत परागसंघात ऐसा प्रतीत होता है, मानो सोने के छत्र की शोभा को धारण कर रहा हो।"

सामान्य कवियों के काव्य में श्लेष भले ही रस विरोधी होकर अग्राह्य हो जाता हो किन्तु भारवि के निम्नलिखित पद में श्लेष श्लाघनीय ही है :

कथाप्रसंगेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः ।
तवाभिधानाद्व्यथते नताननः सुदुःसहान्मंत्रपदादिवोरगः ॥१।२४

"जिस प्रकार सर्प विषवैद्य के द्वारा पढ़े गये असह्य मन्त्र को सुनकर, जिसमें गरुड़ तथा वासुकी का नाम (तवाभिधान) होता है, विष्णु के पक्षी गरुड़ के पराक्रम का स्मरण कर (अनुस्मृताखंडलसूनुविक्रमः) अपने फण को नीचे गिरा देता है। उसी तरह से जब दुर्योधन बातचीत में लोगों के मुख से युधिष्ठिर का नाम सुनता है तो अर्जुन की वीरता को याद कर चिन्ता के कारण सिर झुका लेता है।"

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारवि द्वारा प्रयुक्त अलंकार पूर्णतः स्वाभाविक है, अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य है। उनके लिए किसी पृथक् प्रयास की अपेक्षा नहीं हुई। वे सभी के सभी रसाक्षिप्तरूप में आए हैं। वे रसमय प्रवाह की गति में पूर्णतः सहायक ही नहीं आवश्यक भी हैं।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि भावाभिव्यक्ति के तीन प्रकार साहित्यशास्त्रियों ने स्वीकार किए हैं, उनमें से काव्य को कान्तासम्मित माना गया है। इस दृष्टि से भी किरातार्जुनीय अत्यन्त उपादेय काव्य सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ वेदों में सत्य भाषण या सत्य व्यवहार पर अत्यधिक बल दिया गया है। दर्शपौर्णमास आदि यज्ञों का व्रत भी सत्य का ही व्रत है और तभी :

"इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" यजु १.५ को व्रतमन्त्र माना गया है। उपनिषदों में भी :

"सत्यान्न प्रमदितव्यम्।" तैत्तिरीय उपनिषद्
"सत्यमेव जयते नानृतम् सत्येन पन्था विततो देवयानः।"
"ऋतं तपः सत्यं तपः।" छान्दोग्य उपनिषद्
"सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः।" शतपथब्राह्मण, काण्ड १

आदि द्वारा सत्य की महिमा बतलाई गई है। धर्मशास्त्रों में भी :

"यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।" मनुः ४।२०४

आदि द्वारा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह, इन यमों के

निरन्तर व्यवहार का विधान करते हुए सत्य को आवश्यक स्वीकार किया है। इसी प्रकार दर्शनग्रन्थों में :

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। योगसूत्र, साधनपाद

इत्यादि द्वारा सत्य को सम्पूर्ण क्रियाओं में सफलता के हेतु माना है।

उपर्युक्त प्रभुसम्मित वाक्यों में विनेय की कोई सहानुभूति नहीं होती है, श्रद्धा अथवा भय के कारण भले ही वह उनके प्रति उन्मुख होता हो। इतिहास अथवा पुराणों में हरिश्चन्द्र आदि की कथाएँ मित्र की भाँति सत्य के शुभफल का निर्देश कर उसकी ओर उन्मुख करती हैं अतएव इन सुहृत्सम्मित कथा वाक्यों को विनेय अपेक्षाकृत अधिक मधुर मानता हुआ ग्रहण करता है किन्तु किरातार्जुनीय में प्राप्त वनेचर के निम्नलिखित वाक्य उत्साह के अभिव्यञ्जक होने से आह्लादक तो होते हैं और साथ ही तन्मय कर सत्य व्यवहार की ओर भी प्रेरित करते हैं, जैसे :

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः॥
किरात १.२।

अर्थात् "युधिष्ठिर को प्रणाम कर शत्रुओं द्वारा अपहृत वसुन्धरा के तथ्य वृत्तान्त को पूर्णतया निवेदन करने में उस दूत (वनेचर) के मन में किसी प्रकार की व्यथा न उत्पन्न हुई क्योंकि किसी के कल्याण की कामना करनेवाले पुरुष मनोमोहक किन्तु असत्य वाणी का प्रयोग नहीं करते।"

इसी प्रकार :

क्रियासु युक्तैर्नृप चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः॥
किरात १.४॥

अर्थात् "कार्य सम्पादन के लिए नियुक्त किये गये भृत्यों का कर्त्तव्य है कि वे अपने स्वामी के साथ कपट व्यवहार न करें क्योंकि वे ही उनके नेत्र हैं, इसलिए यदि अप्रिय बात हो तो आप क्षमा करें क्योंकि मनोहारी साथ ही लाभप्रद (सत्य) वचनों का होना अत्यन्त दुर्लभ है।

यह है कान्तासम्मित तत्त्व, सहृदय पाठक वनेचर पात्र के साथ ही तन्मय हो अपने कर्त्तव्य का निर्धारण करता है।

इसी प्रकार वेदों में मायावी के साथ होने योग्य व्यवहार का निर्देश करते ए कहा गया है :

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥
ऋग्वेद मं० १, सू० ३९, मन्त्र २

अर्थात् "तुम्हारे शस्त्रास्त्र और युद्धनीति मायावी शत्रु को भी पराजित करने तथा रोकने के लिए प्रशंसित और दृढ़ हों और तुम्हारी सेना प्रशंसनीय होवे कि तुम सदा विजयी हो किन्तु मायावी मनुष्य को ऐसे साधन न मिलें।"

इसी प्रकार :

या मी सेना परेषामभ्येति मनसा मोदमाना।
तां गूहत तमसा पव्रतेन यथा मी अन्योन्यं न जानन्॥ यजुर्वेद

अर्थात् "मन में (विजय प्राप्ति की आशा से) आनन्दित होती हुई यह जो मायावी शत्रु सेना आ रही है उसे अपव्रत तम से, अबोध्य माया से ढक दो कि ये एक दूसरे को भी न जान सकें।"

नीतिकारों ने भी "शठे शाठ्यं समाचरेत्' का निर्देश कर जिस यथा योग्य व्यवहार का विधान किया है वही भारवि के निम्नलिखित श्लोक में कितने आकर्षक रूप में सहृदय पाठक के मानस में स्वतः स्थान बना लेता है :

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधा-
नसंवृतांगान्निशिता इवेषवः॥ किरात १.३०

अर्थात् "वे अविवेकी पुरुष सदा पराजय को प्राप्त करते हैं जो मायावियों के समक्ष मायावी नहीं बनते। मायावी शत्रु सरल चित्त व्यक्तियों के अन्तःकरण में एक बार स्थान बनाकर पुनः इस प्रकार उनका अनिष्ट करते हैं जिस प्रकार तीक्ष्ण धार वाले बाण कवच रहित शरीर में प्रवेश कर घातक बन जाते हैं।"

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारवि के काव्य में न तो वेदादि प्रभुसम्मित वाक्यों की तरह आदेश हैं और न शास्त्रादि सुहृतसम्मित वचनों की तरह मन्त्रणा या सम्मति ही है क्योंकि वह तो कामिनी के सदृश सहृदय पाठक के हृदय को सरसता से, मोहकता से आकर्षित करके उसको तन्मय बनाकर मधुर शब्दावली में उपदेश करता है और इस कार्यसम्पादन में भारवि के अर्थान्तरन्यास पूर्णरूपेण सहायक सिद्ध हुए हैं। यदि यह कहा जाय कि भारवि ने इस काव्य की सिद्धि के लिए अर्थान्तरन्यास अलंकार को ही अपना प्रमुख साधन बनाया तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

तृतीय अध्याय

भारवि के अर्थान्तरन्यासों से उद्घाटित उनकी विभिन्न क्षेत्रों में मान्यताएँ

अपने वातावरण से गृहीत प्रभावों, उनके फलस्वरूप अर्जित अनुभवों एवं उद्भूत विचारों को व्यक्त करने का माध्यम कवि के द्वारा प्रयुक्त होने पर अलंकारों के आवरण से आवृत होकर अधिक आकर्षक रूप में उपस्थित होता है। भारवि ने अपनी मान्यताओं की अभिव्यक्ति का साधन बनाया है अर्थान्तरन्यास को। इस अलंकार के प्रयोग द्वारा कवि ने अपनी धारणाओं, अनुभवों, अभिरुचि एवं ज्ञान का आभास पाठकों को कराया है जिससे उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की झलक मिलती है।

कवि का मुख्य और प्रिय विषय है राजनीति, इसका प्रमाण उनके राजनीति सम्बन्धी विश्लेषण हैं। इस विषय के विशद प्रतिपादन के कारण ही "किरातार्जुनीयम्" को राजनैतिक काव्य ही कह दिया जाता है। राजनीति के तत्वदर्शी मनीषी होने के कारण भारवि का उद्दिष्ट राजनीति के विचार ही हैं। अर्थान्तरन्यासों के द्वारा कवि ने राजनीतिपरक तथ्यों का स्पष्टीकरण स्थान-स्थान पर किया है, वे तथ्य तत्कालीन परिस्थितियों में ही नहीं, आधुनिक परिस्थितियों में भी तथ्य ही हैं। राज्य में सुख समृद्धि की प्राप्ति के साधन के विषय नें भारवि का विचार अपरिहार्य है। उनका कथन है "राजा और मन्त्री के सर्वथा अनुकूल रहने पर ही उनमें सब प्रकार की समृद्धियाँ अनुरक्त रहती हैं।" १.५ यह राजनीतिविषयक उद्‌गार सार्वकालिक तथ्य है। भारवि के लगभग समकालीन विशाखदत्त ने भी इसे स्वीकार करते हुए कहा कि "राजलक्ष्मी राजा और अमात्य दोनों के परस्पर एकमत रहने पर ही भलीभाँति स्थिर होकर अभ्यर्थना करती है अन्यथा वह चपल स्त्री स्वभाव के कारण दोनों में अन्यतर को अवश्य ही छोड़ देती है।"[1]

राजनीतिक क्षेत्र में सफल होने के लिए आवश्यक हो जाता है कि बलवान् सत्ता के साथ विरोध को बचाया जाये। अन्यथा अपनी ही निर्बलता में वृद्धि

---

१. अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥
मुद्राराक्षस ४.१३

होती है, बलवान पक्ष का क्षय तो उस परिमाण में होता नहीं, संघर्षों के द्वारा तदपेक्षा निर्बल पक्ष की ही हानि होती है। भारवि ने इस सत्य को आरम्भ में ही स्पष्ट किया है "बलवान के साथ विरोध का अन्त कठिन ही है।"[1]

इस सत्य की सत्यता की व्यापकता को अन्यथा सिद्ध कोई कर ही न सका और अनेक राजनीतिज्ञों ने उसका समर्थन किया।[2]

बलवान के साथ विरोध को 'दुरन्त' मानते हुये भी यह भी भारवि कह देते हैं कि "वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः" १.८ किरात०, विजय न भी मिले पर साहस करने का यश तो मिलता ही है "महतां संस्तव एव गौरवाय"। राम से युद्ध में रावण पराजित हुआ तो भी उसकी पराजय इतने महान् पुरुष से हुई इस यश का पात्र तो वह बना ही।

राजनीति में दूतों का स्थान महत्वपूर्ण होता है। यदि राज्य कर्मचारी ही दूतों का कार्य करें तथा दूतों की स्वतन्त्र नियुक्ति न हो तब राज्य की व्यवस्था न चल सकेगी। शत्रु के मर्मगत रहस्यभेदन का कार्य तो दूत ही समुचितरूपेण कर सकते हैं, अन्य राजकर्मचारी नहीं। इस प्रकार किसी भी राजा के लिये चरों की नियुक्ति तथा उनके द्वारा प्राप्त समाचार का समुचित उपयोग राजकीय व्यवस्था के लिए आवश्यक हो जाता है। "राजानश्चारचक्षुषः"। दूतों के द्वारा राजा को जो सूचनायें मिलती हैं उन पर ही राजा के राजनीति संबंधी नियमों का निर्धारण होता है। स्थिति का यथातथ्य ज्ञान चरों से होता है। इस विषय में भारवि का मत है "दूसरों के रहस्यों को जाननेवाले सन्देशहारी मुझ जैसे लोगों की बातें तो केवल परिस्थिति की सूचनामात्र देती हैं।"[3] किसी

१. अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता। १,२३ किरात०

२. आत्मनश्च परेषां च प्रसमीक्ष्य बलाबलम्।
अन्तरं नैव जानाति स तिरस्क्रियतेऽरिभिः।।
बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम्।
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति।।
बलीयसे प्रणमतां काले संहरतामपि।
सम्पदो नापगच्छन्ति प्रतीपमिव निम्नगाः।। ३.७ पञ्चतन्त्र
समं शक्तिमता युद्धमशक्तस्य हि मृत्यवे।
दृषत्कुम्भं यथा भित्वा तावत्तिष्ठति शक्तिमान्।। ३.१४
युध्यते हंकृतिं कृत्वा दुर्बलो यो बलीयसा।
स तस्य वांछितं कुर्यादात्मनश्च कुलक्षयम्।। ३.४३

३. परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः।
१.२५ किरात०

भी राजा के लिये जब चरों की सत्ता इतनी महत्वपूर्ण है तब दूतों के पक्ष में भी यह उत्तरदायित्व आ जाता है कि वे यथातथ्य सूचनायें ही प्रदान करें। सूचनाएं साधु हों या असाधु, क्योंकि—

'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'।

१.४ किरात०

जहां तक हो सके बलवान् से विरोध न करे, यह भारवि मानते हैं पर इसका अर्थ यह नहीं कि भारवि राजाओं को मुनिवृत्ति धारण कर पूर्ण सहनशीलता का आचरण करते हुये समय व्यतीत करने को कहते हैं। उनका तो कहना है "निःस्पृह मुनि लोग ही शत्रुओं (कामादि विकारों) को तिरस्कृत कर शान्ति के द्वारा ही सिद्धि की प्राप्ति करते हैं, राजा लोग नहीं।"[1] बलवान शत्रु से विरोध करने का तात्पर्य इतना ही है कि प्रत्यक्ष संघर्ष को तब तक बचाये जब तक अपने पास शक्तिसंचय न हो जाए। अपने से उत्कृष्ट शत्रु से सन्धि तो केवल समय टालने के लिये की जाती है, जिससे उस समय में साधनों का संग्रह कर लिया जा सके। शक्तिसंचय के अनन्तर तो सन्धि को किसी भी बहाने तोड़कर शत्रु पर विजय प्राप्त करना ही राजा का लक्ष्य बन जाना चाहिये।[2]

भारवि के इन विचारों का समर्थन हमें विष्णुशर्मा कृत पंचतंत्र में भी मिलता है। उनका मत है कि चतुर्थ उपाय (भेद) से साध्य शत्रु के प्रति शान्ति का व्यवहार अनुचित है, विपरीत साधन असिद्ध होगा जैसे कि स्वेदन योग्य ज्वर में जल चिकित्सा।[3] राजनीतिपटु चाणक्य की भी इस विषय में सहमति है कि कुछ काल तक बलवान शत्रु से सन्धि रक्खे और जब अपनी स्थिति को दृढ़ देखे, अवसरानुकूल सन्धि की शर्तों का उल्लंघन कर दे, किसी भी बहाने से।[4]

---

१. व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः॥

१.४२ किरात०

२. अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धि दूषणानि।

१.४५ किरात०

३. चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोम्भसा परिषिञ्चति॥

३.१६ पंचतन्त्र

४. वारुणयोगाग्निदाहेषु वा शरीरमन्यदाधाय शत्रुमभियुञ्जीत। "पुत्रो मे त्वया हत" इति। कौटिलीय अर्थशास्त्र ५१४

इससे ऐसा लगता है कि शत्रु पर विजय प्राप्त करने के उपायों में भारवि ने भेदनीति को बहुत उत्तम माना है। तेजस्वी राजा दूसरों द्वारा अपमान कभी सह नहीं सकते। जिस समय उनको थोड़ी-सी भी अवमानना हुई हो उसी समय उनके पक्ष में भेद नीति का प्रयोग करना चाहिये। भारवि की यह मान्यता थी कि शत्रु पर विजय प्राप्ति केवल नीति से नहीं होती पराक्रम भी आवश्यक है। व्यास ने युधिष्ठिर से कहा है—"युद्ध में विजयश्री प्रकर्ष के अधीन रहती है।"[२]

प्रकर्ष के साथ नीति की उपयोगिता भी कम नहीं। यह भी विजय-लाभ के साधनों में प्रकर्ष के समान ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसीलिये भारवि ने कहा है कि "प्रभुजनों की बुद्धि सदा ही नीतिमार्गानुसारिणी होती है।" तथा नीति का परित्याग वे यथासम्भव नहीं करते।[३]

शक्ति (प्रकर्ष) तथा नीति के साथ ही विजय-प्राप्ति के लिये सहायक भी नितान्त अपेक्षित है। इसे स्वीकार करते हुये भारवि ने लिखा है "ओज से सम्पन्न होने पर भी असहाय व्यक्ति के पास विजयश्री नहीं जाती।"[४]

भारवि की यह मान्यता निर्विवाद सत्य सिद्ध है। विष्णुशर्मा ने पंचतंत्र में स्वीकार किया है कि "समर्थ शत्रु भी असहाय होने पर कुछ नहीं कर पाता जैसे बिना वायु के अग्नि स्वयं बुझ जाती है।"[५]

सहायकों की कार्यशीलता वृद्धि के साधनभूत जिस तथ्य का उद्घाटन भारवि ने किया वह बड़ा ही तर्कसंगत है। "स्वामी द्वारा अधिकृत प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण सम्मान मिलना चाहिये क्योंकि स्वामी द्वारा प्राप्त समादर अधिकृत सेवक की तेजवृद्धि करता है।"[६]

कौटिल्य का यह मत है कि "यदि शत्रु से युद्ध के अवसर पर यह अनुभव हो कि मैं उसके कार्यों को नष्ट न कर सकूंगा अथवा शत्रु के अपकारों से अपनी रक्षा न कर सकूंगा तो बलवान राजा का आश्रय लेकर अपनी रक्षा करे तथा शत्रु का विनाश करता हुआ अपनी वृद्धि की कामना करे।"[७]

---

१. "सहते न जनोऽप्यधःक्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम्" ।

२. "प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः" । ३.१७

३. १०.२९ किरात०

४. ९.३३ किरात०

५. असहायः समर्थोऽपि तेजस्वी किं करिष्यति ।
निर्वाते ज्वलितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥ ३.५५ पंचतन्त्र

६. "सम्भावना ह्यधिकृतस्य तनोति तेजः" । ६.४६ किरात०

७. यदि वा मन्येत : 'नास्मि शक्तः परकर्माण्युपहन्तुं स्वकर्मोपघातं वा

भारवि ने बलवान राजा के आश्रय द्वारा शत्रु विनाश के उपाय को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। अन्य स्थल पर वे कहते हैं : "कार्य की सिद्धियाँ सर्वदा सहायक सामग्री की अपेक्षा रखती हैं अतः वे महानुभावों को भी संघशक्ति से काम लेने की अनुमति देती हैं।"[1]

जैसा कि विष्णुशर्मा ने कहा है "परस्पर मिले हुये निर्बल राजा बलवान शत्रु के द्वारा भी पराजित नहीं किये जा सकते हैं जैसे एक स्थान पर लगे अनेक वृक्ष तेज आंधी के द्वारा भी उखाड़े नहीं जा सकते"।[2]

विष्णुशर्मा की यह उक्ति भारवि की संघवृत्तिता की अपरिहार्यता का ही समर्थन करती है। भारवि के मत में विजय तथा सार्वभौमिकता की सिद्धि के लिये आन्तरिक व्यवस्था के निर्माणकारी तत्वों में विरोध न होना अत्यन्त आवश्यक है। विरोध होने पर निर्बल से निर्बल शत्रु भी पराजित नहीं किया जा सकता।[3]

किसी भी कार्यसिद्धि के लिये एकनिष्ठा परमावश्यक होती है फिर शत्रु पर विजय जैसे कार्य में सफलता प्राप्ति उद्दिष्ट हो तब तो आवश्यक हो ही जाता है कि "जब तक मन में अमर्ष की अग्नि धधक रही है अर्थात् जब तक शत्रु पर विजय नहीं प्राप्त की गई तब तक सुख की कामना को अवसर भी न दिया जाये"।[4] ठीक भी है, जब तक शत्रु के राज्य पर अपनी विजय पताका न लहराने लगे तब तक आमोद-प्रमोद की भावना का क्या आकर्षण? सफलता के बाद ही उस सफलता पर प्रसन्न होना उचित है। सूर्य भी जब समस्त विश्व को अपने तेज से आक्रान्त कर अपनी सत्ता की अनुभूति सब को करा देता है तब ही संध्या की ओर उन्मुख होता है।[5]

भारवि का मत है कि शत्रु का संहार करते समय उसके समूलोन्मूलन को ही लक्ष्य बनाना चाहिये। महान् तेजस्वी भी शत्रु यदि एक बार समूल नष्ट कर

त्रातुम्' इति बलवन्तमाश्रितः स्वकर्मानुष्ठानेन क्षयात्स्थानं स्थानाद्वृद्धिं चाकांक्षेत। कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृष्ठ ४२९

१. महोदयानामपि सङ्घवृत्तितां सहायसाध्याः प्रदिशन्ति सिद्धयः।
१४.४४ किरात०

२. बलिनापि न वध्यन्ते लघवोप्येकसंश्रयाः।
विपक्षेणापि मरुता यथैकस्थानवीरुधः॥ ३.५१ पंचतन्त्र

३. १०.३७ किरात०

४. ज्वलयति महता मनास्यमर्षे नहि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः।
१०.६२ किरात०

५. अनाक्रम्य जगत्सर्वं नो सन्ध्यां भजते रविः॥

दिया जाता है तो फिर उससे भय का कोई कारण नहीं रह जाता क्योंकि उसका पुनः उदय होने की सम्भावना तो रह नहीं जाती।[1]

साथ ही छोटे से छोटे शत्रु की वृद्धि भी उपेक्षणीय नहीं, वह वृद्धि रोग के समान अपकारिणी होती है। रोग का आरम्भ तो छोटा प्रतीत होता है पर वृद्धि के पश्चात् वही प्राणहारी बन जाता है, उसी प्रकार शत्रु भी।[2] अतः शत्रु को कभी छोटा तो समझना ही नहीं चाहिए। चाहे शत्रु छोटा हो चाहे बड़ा, सदैव भय का कारण होता है, येन केन प्रकारेण उसके विनाश का प्रयत्न करना ही चाहिये। साधन चाहे कोई भी क्यों न अपनाने पड़ें किन्तु शत्रु का संहार परम लाभ है यह तो सर्वमान्य है।[3] प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति के लिये शत्रु, भय तथा सतर्कता का कारण होता है।[4]

शत्रु की उपेक्षा न करने को तो भारवि कहते हैं पर दुर्विनीत शत्रु की उपेक्षा की जा सकती है क्योंकि दोष के कारण वे शत्रु सुजय हो जाते हैं और उनकी सम्पत्तियों का अवसान विपत्ति में ही होता है।[5]

राजनीति के क्षेत्र में प्रविष्ट सिद्धि के इच्छुक व्यक्ति के लिये सर्वोत्तम सिद्धांत है...

"शठे शाठ्यं समाचरेत्"। जो इस नीति का अवलम्बन नहीं करता उसके विचार तथा योजनायें वञ्चना का प्रयोग कर शत्रु जान लेते हैं और फिर उस सरल व्यक्ति के लिये उसकी सरलता घातक बन जाती है। अतः भारवि का मत है कि राजनीति की समस्याओं के समाधान में कुटिल व्यक्तियों से अकुटिलता का व्यवहार दोष ही है, अपने इस दोष से अनेक अनर्थ उपस्थित हो जाते हैं।[6]

भारवि का स्पष्ट मत है कि सिद्धि के पञ्चाङ्गों (सहायक, कार्य साधन के

---

१. उपैत्यनन्तद्युतिरप्यसंशयं विभिन्नमूलोऽनुदयाय संक्षयम्।
१६.६१ किरात

२. अल्पीयसोप्यामयतुल्यवृत्तेर्महापकाराय रिपोर्विवृद्धिः॥
१६.२४ किरात

३. नियमेन मया निबर्हणीयः परमं लाभमरातिभङ्गमाहुः॥
१३.१२ किरात

४. Every wise man dreadeth his enemy. Chaucer–Melibeus.

५. 'विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः'। २.५२ किरात

६. व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥
१.३० किरात

उपाय, देशविभाग, कालविभाग तथा विपत्तिप्रतिकार) का निर्णय करने वाली प्रभुशक्ति की उत्पादिका नीति उत्साह की अपेक्षा रखती है। यदि समय को व्यर्थ व्यतीत किया जाये तो कार्य का फल भी समय द्वारा कवलित हो जाता है। अनुत्साही होने पर विपत्तियां आकर भाविनी उन्नति की बाधक बन जाती हैं। तब "छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति" के न्यायानुसार समृद्धि और राज्यश्री निराश्रय हो विपक्ष का आश्रय लेती है। पौरुष और उत्साह से हीन भुजाओं में श्री को अपनी सुरक्षा का विश्वास भी कैसे हो सकता है?[1]

उत्साही होने का अर्थ यह नहीं कि बिना सम्यक् विचार किये ही उत्साह-वश कोई न कोई नवीन कार्य राजा आरम्भ ही किया करे। भारवि का मत है कि जो कुछ किया जाये उसके आगे पीछे सब बातों का विचार कर ले। विवेचना किये बिना कार्य का आरम्भ करना परम आपत्ति का उत्पादक होता है। समृद्धि के इच्छुक को पहले विचार कर लेना चाहिये।[2]

भारवि ने स्पष्ट कहा है कि उदयाभिलाषी पुरुष को चाहिये कि सर्वप्रथम बुद्धि से अज्ञान को नष्ट करे। अज्ञान के नाश से ही मार्ग की बाधाओं के नाश के उपाय सुकर होते हैं और सफलता के एक सोपान पर पादक्षेप हो जाता है। सूर्य भी उदित होने के पहले रात्रिजनित अंधकार को नष्ट करता है तब उदित होता है, जिससे उसकी कान्ति अधिक दीप्त हो जाती है। अज्ञान का नाश करने के पश्चात् ही पौरुष का साफल्य होता है।[3]

किसी भी राजा की योजनाओं की असफलता अथवा विजय अभियानों में पराजय का कारण उसकी मन्त्रशक्ति की दुर्बलता होती है, भारवि का यह दृढ़ विचार है कि संदेहग्रस्त विषयों में दुर्मन्त्रियों का आश्रय लेने वाले राजाओं से अर्थ सिद्धि शीघ्र ही अलग हो जाती है।[4]

क्षत्रिय के लिये शस्त्र धारण ही प्रत्येक अवस्था में विघ्ननिवारण का एकमात्र उपाय होता है। यहां तक कि तपश्चर्या में भी क्षात्रधर्म (शस्त्रग्रहण) का परित्याग उसके लिये दुष्कर है। विघ्नों के बिना कल्याण प्राप्ति होती नहीं और शासक

---

१. निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः। २.१५ किरात

२. वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः। २.३० किरात

३. अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते॥
२.३६ किरात

४. असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि।
३.१४ किरात

वर्ग के व्यक्ति के लिये सभी आपत्तियों से त्राणकर्त्ता शस्त्र ही है। "बिना बाधाओं की विजय के भाग्य के अनुकूल रहने पर भी उद्दिष्ट दूर ही रहता है"।[१]

भारवि का ध्येय किरातार्जुनीयम् में राजनीति के तत्वों का उद्घाटन ही था और इस विषय में उनकी मान्यतायें सर्वस्वीकृत और सार्वकालिक सी प्रतीत होती हैं। अपने इस साध्य की साधना में उन्होंने मनोविज्ञान, नीति, सामान्य व्यवहार, सज्जन, दुर्जन, उद्योग, दैव, शृङ्गार, गुण, प्रकृति (मानव एवं जड़) दर्शन आदि दैनिक जीवन एवं समाज से संबद्ध विषयों पर भी अपनी धारणाओं को व्यक्त किया है।

कवि का विचार है कि यद्यपि परिचर्या या सेवावृत्ति अधमाधम वृत्ति है जिसमें अपनी सत्ता समाप्त हो जाती है और परमुखापेक्षिता जीवन को जीवन नहीं रहने देती परन्तु इस वृत्ति के साफल्य की भी स्थिति आती है तब, जब उत्तमगुणयुक्त व्यक्तियों की परिचर्या का अवसर हो। उनकी परिचर्या भी उत्कर्ष में वृद्धि का कारण होती है।[२]

कवि की अनुचरों के विषय में यह मान्यता प्रकट होती है कि सेवकों को अनुचर (पीछे चलने वाला) ही होना चाहिये। अनुकरणकर्त्ता होने में ही उनका हित है। वे तो होते हैं पराधीन। उनसे आशा तो स्वामीगण यही करते हैं कि किसी भी कार्य में त्रुटि न हो, बिना कहे ही इच्छा मात्र से उनकी आवश्यकता की पूर्ति वे सेवकगण कर दें। सेवकों से जितनी संभावना की जाती है उसमें न्यूनता आने पर, उस समय स्वामी के सम्मुख उनका अवस्थान साहस मात्र ही होता है, उन्हें सम्मुख रहना न चाहिये।[3] क्योंकि स्वामी की सफलता में कभी कभी अनुचर वर्ग की अपने योग्य कृत्यों में असावधानता या प्रमाद ही कारण होता है।

भारवि के मनोविज्ञान सम्बन्धी अर्थान्तरन्यास भी केवल मनोवैज्ञानिक नहीं कहे जा सकते। बाह्य जीवन एवं बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा भारवि का चिन्तन मनोवैज्ञानिक अधिक रहा है। उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों का संबंध मुख्य विषय राजनीति से ही है, तत्सम्बद्ध तथ्यों के उन्मीलन में सूक्ष्म चिन्तनों

---

१. प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि
श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः ॥ ५.४९ किरात

२. बहुमतिमधिकां ययावशोकः परिजनतापि गुणाय सद्गुणानाम्।
१०.९ किरात

३. सम्भावनायामधरीकृतायां पत्युः पुरः साहसमासितव्यम् ॥
१७.४२ किरात

एवं निरीक्षणों का प्रयोग किया गया है। चित्तवृत्ति की विभिन्नता एवं विचित्रता का तत्व ही भारवि को सब से अधिक आकर्षक लगता था। आपत्तियों को सहते जाना तथा प्रतिकार का प्रयत्न न करना उन्हें स्वीकार्य न था। इसी कारण द्रौपदी के मुख से उन्होंने कहलाया है—आप की विपत्ति देखनेवालों को परेशान कर देती है पर आप पर प्रभाव नहीं पड़ता। मैं तो आप की बुद्धि को समझ भी नहीं पाती। चित्तवृत्तियां विलक्षण होती भी तो हैं, सम्भवतः यही कारण है।[१]

यह एक ध्रुव सत्य है कि संसार से विरक्त तपस्वियों के मानस में भी पक्षपात होता है। वे वीतरागी होते हैं पर उनका मानस भी मानस है, सज्जनों से सम्पर्क होने पर उनके मानस में भी लहरें उठती हैं, सज्जनों की सज्जनता का प्रभाव पड़े बिना रह ही नहीं सकता। इस रहस्यमय तथ्य का स्पष्टीकरण व्यास द्वारा कवि ने कराया है क्योंकि व्यास स्वयं एक मान्य वीतरागी मुमुक्षु मुनि हैं। वह भी कहते हैं कि 'वीतराग मुमुक्षुओं के हृदय में सज्जनों के प्रति पक्षपात हो ही जाता है'।[२]

भारवि ने अनुभव किया था कि विषयों के वशीभूत होने पर मानव में उचितानुचित विवेक नहीं रह जाता है। विषयों के वशीभूत होना बुद्धिनाश और अन्ततः सर्वनाश का कारण होता है।[3] इसी कारण भारवि ने व्यास द्वारा अपना मत स्पष्ट किया है कि विषयाभिलाष के कारण ही मोह होता है।[४]

यह अनुभव का ही फल है कि भारवि यह कह पाते हैं कि सज्जनों के निर्मल चित्त को भी रागद्वेषादि विकार विकृत कर देते हैं यदि चिरकाल तक एकान्तवास में प्रमाद आ जाये अभ्यास के बिना ही। इसी कारण द्रौपदी

---

१ इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः॥
१.३७ किरात

२. वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः।
३.१२ किरात

३. ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ८.६२ गीता
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मतिविभ्रमः।
स्मृतिनाशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥ ८.६३ गीता

४ सुता न यूयं किमु तस्य राज्ञः सुयोधनं वा न गुणैरतीताः।
यस्त्यक्तवान्वः स वृथा बलाद्वा मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः॥
३.१३ किरात

अर्जुन को तपस्या के लिये जाते समय सावधान करती है।[1]

मानव भावों के विशेष परिचय के बाद ही कहा जा सकता है कि जो मनुष्य गूढ़ संकेतों को समझ लेता है उसका मानस अवसर पर मूक रह नहीं सकता।[2] बुद्धि के फलस्वरूप इंगितज्ञता (बाह्याकार से चित्त की स्थिति का ज्ञान) आ जाना स्वाभाविक ही है।[3] फिर मुखरता भी अवसर पर अच्छी लगती है,[4] अनवसर ही मुखर होना भले ही दोष हो। स्वभाव का गांभीर्य अपेक्षित है पर अवसरानुकूल मुखर होना लाभप्रद तथा शुभ ही होता है।

साथ ही मानव मन का यह स्वभाव भी है कि दुष्प्राप्य एवं योग्य सम्बन्ध होने पर वह उत्कृष्ट सम्पत्ति का स्वागत करता ही है।[4]

मनोभावों का विवेचन मनोविज्ञान का ही विषय है। मानव के सभी भाव या तो १. भय से सम्बद्ध होते हैं या २. प्रेम से। दोनों ही चित्तवृत्तियों (भय तथा प्रेम) का सूक्ष्म विश्लेषण भारवि ने किया होगा। वैर तथा भय के अवसर पर मानव मानस की व्याकुलता साधारण-सा फल है। कवि को यह मान्य प्रतीत होता है कि "संकट के क्षणों में उद्विग्नता से विचलित मन इतना मुग्ध हो जाता है कि कुछ भी सोच-विचार करने की शक्ति नहीं रह जाती।[5] साथ ही यह भी मनोवैज्ञानिक सत्य है कि "दो वैरी संकट के अवसर विशेष पर पारस्परिक वैर को भूल जाते हैं। अत्यन्त भय देनेवाली विपत्तियां एक साथ आकर सहज वैर को तत्काल दूर कर देती हैं"।[6] वैर की भावना को अधिक काल तक छिपाया नहीं जा सकता। कवि की इस सम्बन्ध में स्पष्ट उक्ति है कि "चित्त की प्रसन्नता एवं कालुष्य ही मित्र अथवा शत्रु होने की सूचना दे देता है।"[7]

---

१. मा गाश्चिरायैकचरः प्रमादं वसन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे।
मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि॥
३.५३ किरात

२. न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति। ४.२० किरात

३ 'परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः' 'मुखरताऽवसरे हि विराजते'॥
५.१६ किरात

४. सुदुर्लभे नार्हति कोऽभिनन्दितुं प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसंगमे॥
४.४ किरात

५. मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु सम्भ्रमज्वलितं मनः। १५.२ किरात

६. घ्नन्ति सहजमपि भूरिभियः सममागताः सपदि वैरमापदः।
१२.४६ किरात

७. विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं वा।
१३. ६ किरात

वेष के द्वारा वास्तविकता को छिपाया नहीं जा सकता। चेष्टाओं से छिपा रूप प्रकट हो जाता है।[1] महान व्यक्तियों में ही यह सामर्थ्य होता है कि अवसर विशेष में भी अपने भावों को गुप्त रख सकें।[2] किन्तु सामान्य जनों के लिये तो यही सत्य है कि "मनुष्य की बाहरी आकृति मन की प्रतिकृति है।"

भारवि के अनुसार प्रेम में संयोग के साथ ही वियोग भी ऐसा सत्य है जो असत्य हो नहीं सकता।[3]

श्रृंगार चित्रों में भारवि अनेक ध्रुव सत्यों का उद्घाटन करते हैं। कभी-कभी कामवश किए गए अपराध भी उपकारी हो जाते हैं।[4] सुकुमारता भी क्रूरता हो जाती है[5] तथा आश्रय विशेष से संयोग होने पर गुणहीन वस्तु में भी गुणों का आभास होने लगता है।[6] वारुणी का प्रयोग श्रृंगार में गुणदोषों के निश्चय का रहस्योद्घाटन कर देती है, चंचला है इसलिये भारवि का यह स्पष्ट कथन है कि अभिसरण में मानभंग के लिये पुरुष के पास तो अनेक साधन हैं, उसके लिये अनुनय है तो उपेक्षा भी, दीनता है तो साथ में गर्व भी, सभी का प्रयोग वह मानभंग के लिये कर सकता है पर स्त्री के पास अनुनय के सीमित साधन होते हैं दीनता, लज्जा का त्याग, अन्त में अश्रु। अश्रुप्रयोग ही अन्तिम शस्त्र है। इसके आगे स्त्री का क्षेत्र नहीं। उसके साधन यहीं तक हैं।[7]

---

१. नूनं तथा नैष यथास्य वेषः प्रच्छन्नमप्यूहयते हि चेष्टा।
१६.१९ किरात

२. आकारवैषम्यमिदं च भेजे दुर्लक्ष्यचिह्ना महतां हि वृत्तिः।
१७.२३ किरात

३. इच्छतां सह वधूभिरभेदं यामिनीविरहिणां विहगानाम्।
आपुरेव मिथुनानि वियोगं लङ्घ्यते न खलु कालनियोगः॥
९.१३ किरात

४. कान्तवेश्म बहु सन्दिशतीभिर्यातमेव रतये रमणीभिः।
मन्मथेन परिलुप्तमतीनां प्रायशः स्खलितमप्युपकारि॥ ९.३७ किरात

५. आदृता नखपदैः परिरम्भाच्चुम्बितानि घनदन्तनिपातैः।
सौकुमार्यगुणसंभृतकीर्तिर्वाम एव सुरतेष्वपि कामः॥ ९.४९ किरात

६. प्राप्यते गुणवतापि गुणानां व्यक्तमाश्रयवशेन विशेषः।
तत्तथा हि दयिताननदत्तं व्यानशे मधु रसातिशयेन॥ ९.५८ किरात

७. करुणमभिहितं त्रपा निरस्ता तदभिमुखं च विमुक्तमश्रु ताभिः।
प्रकुपितमभिसारणेऽनुनेतुं प्रियमियती ह्यबलाजनस्य भूमिः॥
१०.५८ किरात

निश्चय ही ये साधन पूर्वकथित साधनों की तुलना में बहुत ही निर्बल हैं।

मानव मन की सर्वाधिक स्वाभाविक वृत्ति है प्रेम जिसके विशाल प्रसार में साधारण परिचय, एवं स्नेह से लेकर रति तक का प्रवेश हो जाता है। भारवि के प्रेम सम्बन्धी विश्लेषण से उनके शृङ्गार, नारी, प्रसाधन, यौवन आदि के सम्बन्ध में विचार व्यक्त होते हैं।

कवि का कथन है कि तप करना तो सरल है पर प्रेमी तथा अनुकूल तथा योग्य स्त्री की प्राप्ति दुर्लभ है।[1]

स्वाभाविक प्रेम रस से परिपूर्ण स्त्रियां अपनी बनावटी चेष्टाओं से भी प्रेमियों के मन को अवश्य ही मोह लेती हैं।[2] कवि का यह भी कथन सत्य ही सिद्ध लगता है कि प्रगाढ़ प्रेमीजनों के चित्त में यदि अमर्ष हो तो अनुनय-विनय से उसमें वृद्धि अवश्य होती है।[3] इसका यह तात्पर्य नहीं कि उस अमर्ष को क्रोधादि से दूर किया जाये। प्रेम के क्षेत्र में मानभङ्ग का एकमात्र साधन ही अनुनय-विनय है। जिस अमर्ष की वृद्धि अनुनय-विनय से होती है वह अमर्ष शुद्ध क्रोध नहीं, मान एवं कृत्रिम कोप है, उसमें अनुनय द्वारा वृद्धि का कारण भी मान ही है।

भय के समान प्रेम में भी चित्त की विह्वलता तथा भावों की गोपनीयता का प्रयत्न असफल होना चिर सत्य है। मानस में प्रेम का उदय होने पर उसे छिपानेवाली चेष्टायें ही प्रेम-भावना की सूचना देनेवाली हो जाती हैं।[4] प्रेम का परिचय प्रेमी हृदय को अवश्य ही प्राप्त हो जाता है, प्रेम को गुप्त नहीं रक्खा

---

१. पुनरपि सुलभं तपोनुरागी युवतिजनः खलु नाप्यतेऽनुरूपः।

१०.५० किरात

लैटिन साहित्य में भी कहा है :

One man among the thousand have I found but a woman among them all I have not.

Old Testament.

२. अकृत्रिमप्रेमरसाहितैर्मनो हरन्ति रामाः कृतकैरपीहितैः।

८.४६ किरात

३. जनस्य रूढप्रणयस्य चेतसः किमप्यमर्षोऽनुनये भृशायते॥

८.५४ किरात

४. स्फुटमभिलषित बभूव वध्वा वदति हि संवृतिरेव कामितानि॥

१०.४४ किरात

जा सकता ।[१] भारवि का यह विचार अत्यन्त मौलिक एवं परीक्षित-सा है कि शरीर में स्वाभाविक सौन्दर्य हो या न हो पुष्पधन्वा का प्रवेश उसे सुन्दर बना ही देता है ।[२] स्त्री की अवस्थाविशेष वास्तव में गौण होती है काम की स्थिति में प्रत्येक स्त्री की शोभा मनोहारिणी हो ही जाती है। शेक्सपीयर ने भी इसे माना है ।[३] भारवि कहते हैं कि यौवन की शोभा में अनायास ही इतना माधुर्य आ जाता है कि वह मन को हरे बिना नहीं रहती ।[४]

भारवि का मत है कि प्रेम में परिचय की आवश्यकता नहीं रहती। मन का आकर्षण ही उनका परिचय होता है। किसी परिचायक के अभाव में परस्पर दर्शनजन्य आनन्द ही उनका परिचायक होता है। यह विचार 'जननान्तर-सौहृद' के रूप में प्रेम को प्रस्तुत करता है। आकर्षण का कारण पूर्व परिचय होने की वजह से भिन्न स्थिति तथा आकार होने पर भी हृदय का आकृष्ट हो जाना ही वहां परिचय के प्रमाण का काम करता है। तब संयोजक व्यक्ति या स्मरण चिह्न की आवश्यकता नहीं रहती। न पहिचानने पर भी मन खिंच ही जाता है। रक्त ऐक्य भी कभी-कभी इस मानस की आर्द्रता का कारण हो जाता है ।[५] प्रेम के सम्बन्ध में स्वीकृत इस तथ्य को लोक में सन्देह का सामना भी करना पड़ता है। सम्भवतः इसी कारण कालिदास भवभूति आदि ने जन्म जन्मान्तर के प्रेम की उच्चता और सम्भाव्यता का स्पष्ट संकेत आवश्यक माना ।[६]

---

१. There is no hiding love from lovers eyes.

Crowne, The Destruction of Jerusalem.

२. इति विविधमियाय तासु भूषां प्रभवति मण्डयितुं वधूरनङ्गः ॥

१०.५९ किरात

३. Young Adam cupid that shot sotrim when King Cophetua, loved the beggar maid,

Shakespeare, Romeo & Juliet.

४. प्रसभमवततार चित्तजन्मा हरति मनो मधुरा हि यौवनश्रीः ।

१०.१७ किरात

५. अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः । ११.८ किरात

६. (क) राजदरबार में आई शकुन्तला को न पहिचानने के कारण दुष्यन्त अस्वीकार अवश्य कर देते हैं पर उसके चले जाने पर उनका व्यथित हृदय ही विस्मृत पूर्व परिचय की सूचना देता है :

कामं प्रत्यादिष्टा स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ॥

५.४१ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ,

प्रेमी हृदय की कोमलता भी कवि की दृष्टि से ओझल नहीं रही। इस विषय में भारवि का मत है कि 'प्रेमपूर्ण मानस अकारण ही शंकालु होता है'।[1] उद्विग्नता से विचलित मन में तर्कशक्ति का प्रयोग न हो सकने से प्रेम और शंका का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हो जाता है। शेक्सपीयर के मतानुसार भी प्रेम शंकालु इसलिये होता है क्योंकि प्रेम में मनुष्य की विचारशक्ति निश्चेष्ट हो जाती है।[2] प्रेम होने पर प्रेमी के वियोग की, प्रेम के खोने की शंका मन को शंकालु बना देती है। प्रेम जैसी अमूल्य निधि का लुण्ठक कोई भी हो सकता है इसी कारण मन शंकास्पद हो जाता है। क्योंकि कोई वस्तु जितनी अमूल्य होती है उसकी रक्षा के विषय में सतर्कता और खोने का भय उतना ही

(ख) राम और लव एक दूसरे को देखते हैं तथा उनका अन्तस्तल ही एक दूसरे के अनायास परिचय की सूचना देता है :

लवः—(स्वगतम्) अहो पुण्यानुभावदर्शनोऽयं महापुरुषः।

आश्वास इव भक्तीनामेकमायतनं महत्।
प्रकृष्टस्येव धर्मस्य प्रसादो मूर्तिसुन्दरः॥ ६.१०

आश्चर्यम्!

विरोधो विश्रान्तः, प्रसरति रसो निर्वृतिघन-
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति, विनयः प्रह्वयति माम्।
झटित्यस्मिन्दृष्टे किमिति परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः॥ ६.११

रामः—तत्किमयमेकपद एव मे दुःखविश्रामं ददात्युपस्नेहयति च कुतोऽपि निमित्तादन्तरात्मानम्? अथवा 'स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्ष' इति विप्रतिषिद्धमेतत्।

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥ ६.१२

भवभूतिविरचित उत्तररामचरित

१. योषितो न मदिरां भृशमीषुः प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि॥

९.७० किरात

२. To say the truth reason & love keep little company these days.

Shakespeare, Midsummer Night's Dream, Act III.

अधिक रहता है। प्रेम से अधिक अमूल्य निधि होगी भी क्या? प्रेम के क्षेत्र में तो मित्रता भी शंकास्पद हो जाती है। इसीलिये प्रेम-विषयक क्षेत्रों में मैत्री को भी शङ्कास्पद ही कहा गया है।[1]

भारवि का प्रिय-अप्रिय के विषय में विश्लेषण उनकी सूक्ष्म दृष्टि का फल है। मानस के शान्त होने पर ही उसमें सुख की अभिलाषा या कामिता का स्थान हो पाता है।[2] यदि मन अमर्षयुक्त है या प्रतिहिंसा की भावनाओं से उद्वेलित है तो उस समय मनोहर से मनोहर वस्तु भी आकृष्ट नहीं करती। दुःखित मानस में प्रियतर वस्तु भी अप्रिय ही नहीं असह्य हो जाती है।[3] यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि वस्तुओं के गुणपक्ष या अवगुणपक्ष, आह्लादक पक्ष या दुःखद पक्ष का दर्शन और अनुभव उनकी वस्तुस्थिति पर नहीं, मनुष्य की मनःस्थितियों एवं रुचियों की भिन्नता पर निर्भर रहता है। विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सबको अच्छी लगे।[4] क्योंकि सब की रुचियाँ भिन्न होती हैं।[5] मनुष्य अपनी मानसिक दशा के अनुकूल ही किसी वस्तुविशेष के गुण-अवगुण की परख करता है।[6] नाट्यकार बर्टन ने भी मनुष्य की अभिलाषा का प्राधान्य ही वस्तु के अच्छे लगने में स्वीकार किया है।[7]

भारवि के परवर्ती राजशेखर ने प्रेम के सम्बन्ध में विस्तृत विचार प्रकट किये हैं। उनका मत है कि चाहे चक्रवर्ती राजा की पत्नी हो या साधारण पुरुष

---

१. Friendship is constant in all other things save in the office and affairs of love. Therefore all hearts in love use the iron tongues. Let every eye negotiate for itself and trust no agent. Shakespeare, Much ado about NOTHING.

२. ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः।
१०.६२ किरात

३. सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम्।
९.३० किरात

४. नास्ति तज्जगति सर्वमनोहरं यत्... व्यक्तिविवेक

५. भिन्नरुचिर्हि लोकः... रघुवंश

६. The mind is its own place, and in itself can make a heaven of hell, a hell of heaven.

Milton, PARADISE LOST.

७ There is no good, there is no bad, these be the whims of mortal will. Burton, KASIDAH.

की प्रेयसी दोनों के प्रेम में बिल्कुल भी अन्तर नहीं होता।[१] प्रेम के उदय के कारणों पर विचार करते समय राजशेखर कहते हैं कि प्रेम सम्बन्धी आकर्षण आभूषणों से, सौन्दर्य से या शृंगार से उत्पन्न नहीं होता, उसका मूल कुछ अन्य ही है। गीत, नृत्य, मदिरा, कुंकुम आदि प्रसाधनों के साधनों में उतना माधुर्य नहीं जितना मनुष्य की रुचि में।[२] भारवि का पर्याप्त प्रभाव राजशेखर में दिखाई पड़ता है। भारवि ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि आकर्षण की शक्ति वस्तु में नहीं प्रेम में रहती है।[३] प्रसाधनों में रम्यता के आधान का हेतु भी प्रिय समागम ही होता है।[४]

रम्य वस्तुयें प्रत्येक अवस्था में सुंदर ही प्रतीत होती हैं। उनमें यदि विकृति भी हो तो स्वाभाविक सौन्दर्य के बल पर ही वे मन को आकृष्ट कर लेती हैं।[५]

भारवि के मानव की चित्तवृत्तियों के विश्लेषण से उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का ज्ञान होता है। राजनीति उनका विषय है पर गौणवृत्त्या अन्य विषयों में भी उनके विश्वास का आभास हो जाता है। राजनीति में किसी पर विश्वास करना उचित नहीं माना जाता। राजनीति और विश्वास परस्पर विरोधी से हैं पर फिर भी भारवि ने अपनी अन्तर्दृष्टि के आधार पर सज्जनों को सदा ही विश्वास योग्य माना है। सज्जनों की संगति तो शीघ्र ही विश्वास उत्पन्न कर देती है।[६] गुणों का अन्वेषण ही इन सज्जनों को इष्ट होता है। वे अधिकाधिक गुणों की खोज में लगे रहते हैं, उपस्थित गुणों से ही संतुष्ट नहीं होते।[७] मनस्विता, महानता तेजस्विता, जितेन्द्रियता आदि सज्जनों के विशेष गुण हैं।

अपने अर्थान्तरन्यासों द्वारा भारवि ने सज्जनों के विषय में विचार व्यक्त किए हैं। पीड़ित को पीड़ित करना भारवि की दृष्टि में बहुत बुरा है इसी कारण

---

१. या चक्कवट्टघरिणी...कुंकुमेहिं।
या चक्रवर्तिगृहिणी जनगेहिनी वा, प्रेम्णि तयोर्न तिलमात्रमपि विशेषलाभः।
जाने प्रिया यदि क्रियते कोऽपि भावो, माणिक्यभूषणनिवसनकुंकुमः॥
३.१५ कर्पूरमञ्जरी

२. न किमप्यन्यत् रुचेरस्ति सदृशं पुनर्मानुषस्य॥ ३.१४ कर्पूरमञ्जरी

३. वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि॥ ८.३७ किरात

४. न स्रजो रुरुचिरे रमणीभ्यश्चन्दनानि विरहे मदिरा वा।
साधनेषु हि रतेरुपधत्ते रम्यतां प्रियसमागम एव॥ ९.३५ किरात

५. रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति॥ ७.५ किरात

६. इयाय सख्याविव सम्प्रसादं विश्वासयत्याशु सतां हि योगः।
३.३१ किरात

७. यथोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिनः। ८.४ किरात०

सज्जनों के इस स्वभाव की अनेक बार चर्चा की है।[1] सज्जनों के स्वभाव की एक यह विशेषता है कि वे अपने ऊपर आई विपत्तियों को भूल कर विपत्ति में पड़ते और अपने उपकारियों के लिये ही दुःखी होते हैं, अपनी विपत्ति की अपेक्षा दूसरे की आपत्ति से उन्हें अधिक दुःख होता है।[2] कृतज्ञता उनका महान् भूषण है। वे उसका अधिक आदर करते हैं जो कुछ कार्य करके दिखला देता है। भविष्य में उपकार करने वाले का वे उतना अधिक आदर नहीं करते।[3] जब कि आज व्यावहारिक जगत में यह सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया है कि जिससे जब तक आवश्यकता है तब तक उसका सम्मान किया जाये तथा काम निकल जाने पर उसकी उपेक्षा की जाए। कृतघ्नता की सीमा तो तब आती है जब उस उपेक्षा में तिरस्कार का पुट होना भी आवश्यक मान लिया जाता है।

भारवि का स्वयं का मनस्वी और महान् व्यक्तित्व था। जीवन की महानताओं के विषय में उनका साक्षात्कार अत्यन्त सूक्ष्म था। उनका मनस्वी मानस कौटिल्य की परम्परा का अनुयायी रहा है, मुनि जीवन की ओर उन्मुख नहीं। भारवि ने यह स्वीकार किया है कि शत्रुओं द्वारा जिसके बल एवं पराक्रम का तिरस्कार नहीं हुआ है ऐसे मनस्वियों का पराभव भी उत्साहवर्धक ही होता है।[4] मनस्वी व्यक्ति अपमानित होकर चुप नहीं रह सकता। वह द्रौपदी के मुख से युधिष्ठिर के लिये कहलाते हैं कि तेजस्वियों में अग्रगामी, यश को सर्वस्व मानने वाले आप जैसे शूरवीर अत्यन्त कठिनाई से सहने योग्य इस प्रकार से शत्रु द्वारा होने वाले अपमान को प्राप्त करके भी यदि संतोष करते हैं तो हाय! मनस्विता बेचारी निराश्रय होकर नष्ट हो गयी।[5] गुणग्राहकता मनस्विता का

---

१. (क) नातिपीडयितुं भग्नानिच्छन्ति हि महौजसः ।। १५.६ किरात

(ख) अरुन्तुदत्वं महतां ह्यगोचरः ।। १४.५५ किरात

२. स्वामापदं प्रोज्झ्य विपत्तिमग्नं शोचन्ति सन्तो ह्युपकारिपक्षम् ।।

१७.४० किरात

किमत्र चित्रं यत्सन्तः परानुग्रहतत्पराः ।

नहि स्वदेहशैत्याय जायते चन्दनद्रुमाः ।। विक्रमांकदेवचरित १३८

३. न तथा कृतवेदिनां करिष्यन् प्रियतामेति यथा कृतावदानः ।।

१३.३२ किरात

४. परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ।

१.४१ किरात

५. पुरःसरा धामवतां यशोधना सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम् ।

भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त ! हता मनस्विता ।।

समान तत्व है। मनस्वी जन वक्ता की ओर ध्यान दिये बिना वक्तव्य में प्राप्त गुणों को अनायास ही ग्रहण करते हैं।[1]

मनस्वी व्यक्ति तो अपने तेज से ही संसार को पराजित करता है, किसी अन्य पुरुष की सहायता से ऐश्वर्य की कामना नहीं करता।[2] मनस्विता के लिये आवश्यक हो जाता है कि अपने शारीरिक सुख या प्राणों की अपेक्षा भी यश और मानमर्यादा की ओर अधिक ध्यान दिया जाये।[3] और इसी कारण मनस्वी पुरुष स्वयं पीड़ा का अनुभव करके भी पीड़ित को उत्कर्ष की प्राप्ति करा देता है।[4]

भारवि के अनुसार सज्जनों की मनस्विता की विशेषता है कि उनकी बुद्धि

---

१. ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ।। २.५

तुलनीय :

"बालादप्यर्थजातं श्रृणुयात् (१६६)
गुणेन मत्सरः कर्तव्यः (३०४)
शत्रोरपि सुगुणो ग्राह्यः (३०५)
विषादप्यमृतं ग्राह्यम् (३०६)
चाणक्यसूत्र

२. मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः ।
लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ।। २.१८ किरात

(क) क्षुधार्तो न तृणं चरति सिंहः । १६३ चाणक्यसूत्र

(ख) को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतः,
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ।
यद्दंष्ट्रानखलांगुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः ।।
१०८ हितोपदेश : मित्रलाभ

(ग) मनस्विनो न मन्यन्ते परतः प्राप्यजीवनम् ।
बलिभुग्भ्यो न काकेभ्यः स्पृहयन्ति हि कोकिलाः ।।
दृष्टान्तशतकम्

३. ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः ।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः ।।
२.२० किरात

मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।
निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् ।। हितोपदेश १.१३३

४. महते रुजन्नपि गुणाय महान् ।। ६.७ किरात

नीतिमार्गानुसारिणी होती है।[१] उनकी प्रत्येक चेष्टा का उद्दिष्ट यश ही होता है तथा नारी जाति अथवा निर्बलों के प्रति उनकी बुद्धि में प्रतिहिंसा की भावना कदापि स्थान नहीं पा सकती।[२]

मनस्वी लोगों की एक अन्य विशेषता की चर्चा करते हुए भारवि कहते हैं कि वे लोग फल प्राप्ति के सूचक अनुभवों के होने पर भी धैर्य को छोड़कर विस्मित नहीं होते।[३] इसी प्रसंग में कवि की उक्ति है कि मनस्वियों के मानस को व्याकुल करने वाली कौन सी वस्तु हो सकती है।[४] इस विशेषता पर भारवि ने सर्वाधिक बल दिया है। एक स्थल पर वे कहते हैं "महान् पुरुषों का समाधिभंग (निश्चित कर्त्तव्य पथ से डिगना) सरल बात नहीं।[५] तथा विजयाभिलाषी व्यक्तियों का चित्त नीति मार्ग से कभी विचलित नहीं होता।[६] अन्यत्र कहा है कि धैर्य ही महान् पुरुषों का अविभाव्य धन होता है।[७] इस प्रकार भारवि ने मनस्वियों के सम्बन्ध में दृढ़ता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। अपने मार्ग

---

१. नयवर्त्मगाः प्रभवतां हि धियः ॥ ६.३८ किरात

२. स्वयशांसि विक्रमवतामवतां न वधूष्वघानि विमृषन्ति धियः ॥
६.४५ किरात

३. न जगाम विस्मयवशं वशिनां न निहन्ति धैर्यमनुभावगुणः।
६.२८ किरात

४. श्रममादधावसुकरं न तपः किमिवावसादकरमात्मवताम्।
६.१९ किरात

५. न हि महतां सुकरः समाधिभंगः ॥ १०.२३ किरात

६. विकृतिमुपययौ न पांडुसूनुश्चलति नयान्न जिगीषतां हि चेतः।
१०.२९ किरात

७. महतां हि धैर्यमविभाव्यवैभवम्। १२.३ किरात

तुलनीय :

चलन्ति गिरयः कामं युगान्तपवनाहताः।
कृच्छ्रेऽपि न चलत्येव धीराणां निश्चलं मनः ॥
कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्ते न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा यान्ति कदाचिदेव ॥
रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीम विषेण भीतिम्।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥
निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

से विचलित न होकर मनस्वी बढ़ते जाते हैं। उन्हें अपने पर अधिक विश्वास रहता है प्राकृतिक शक्तियों पर नहीं।[1]

मनस्वी जन के विषय में एक विरोधी तथ्य जिसका स्पष्टीकरण भारवि ने किया है वह यह है कि वे प्रतिहिंसा की भावना को तो कदापि प्रश्रय नहीं देते पर दूसरे की उन्नति को भी सह नहीं पाते क्योंकि उनको संतोष तभी होता है जब वे प्रतिस्पर्द्धा की भावना से सर्वश्रेष्ठ पद की प्राप्ति कर लें।[2]

भारवि ने तेजस्वी राजाओं का वर्णन करते हुए कहा है कि तेजस्वी जन किसी के द्वारा तिरस्कार नहीं सह सकते।[3] क्योंकि उत्तम लोग मान की ही इच्छा करते हैं।[4]

मनस्वियों के स्वभाव के सम्बन्ध में भारवि ने सूक्ष्म निर्देश किया है कि वे अपनी गम्भीरता के कारण अपनी चित्तवृत्तियों को अवसरानुकूल दूसरों के समक्ष प्रकट नहीं होने देते[5] सुविधापूर्वक छिपा लेते हैं जो साधारण व्यक्ति के

---

१. I hove no more gainst time or fate,
For Lo my own shall come to me.
John Boroughs, Waiting.

२. किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया॥ २.२१ किरात

क. न सदश्वाः कशाघातं न सिंहा घनगर्जितम्।
परैरंगुलिनिर्दिष्टं न सहन्ते मनस्विनः॥ सुभाषितावलि २२६५

ख. यदचेतनोऽपि पादैः संस्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरनिकान्तः।
तत्तेजस्वी पुरुषः परप्रकृतिविकृतिं कथं सहते॥
भर्तृहरि सुभाषितसंग्रह ६५

ग. न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां प्रसहते
स तस्य स्वो भावः प्रकृतिनियतत्वादकृतकः।
मयूखैरश्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः
किमाग्नेयग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति॥
सूक्तिमुक्तावलि, जल्हणरचित

३. सहते न जनोऽप्यधःक्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम्॥
२.४७ किरात

४. अधमाः धनमिच्छन्ति धनं मानञ्च मध्यमाः।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्॥ चाणक्यनीति

५. दुर्लक्ष्यचिह्ना महतां हि वृत्तिः॥ १७.२३ किरात

वश का नहीं। गम्भीर होने के कारण वे दूसरों की चेष्टाओं को निष्फल बना देते हैं।[१] मनस्वियों का चरित्र इतना उदात्त होता है कि उनका पालन तो दूर अनुकरण करना भी कठिन हो जाता है।[२] भारवि के मनस्विजन सम्बन्धी विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि वे स्वाभिमान पर बहुत बल देते हैं। दीनता को वे जीवन में स्थान देना नहीं चाहते। तिरस्कृत और अपमानित होकर जीने से सम्मानित होकर वीर गति पाना अधिक श्रेयस्कर है।

भारवि ने सज्जनों के गुणों का यत्रतत्र वर्णन किया है। सज्जन मैत्री को उन्होंने विशेष उपयोगी माना है। सज्जनों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे सदा मित्र के रूप में ग्राह्य हैं। वे लोग सदा न्याय का ही अवलम्ब लेते हैं।[३] उनका अन्तःकरण अक्षोभणीय होता है[४] किसी की वे निन्दा नहीं करते, द्वेष-भाव को प्रश्रय नहीं देते। सबकी हित-कामना करते हैं तथा उनकी वाणी सदा गुणों का ही कथन करती है।[५] कर्त्तव्य-पथ पर वे अडिग रहते हैं, अपने निश्चित व्रतों (कर्त्तव्यों) की पूर्त्ति वे अपनी शोभा का हेतु समझते हैं।[६]

सज्जनों के विषय में जिन तत्त्वों का उल्लेख भारवि ने किया है उन सभी का समावेश उदार शासक अब्राहम लिंकन के शब्दों में प्राप्त होता है।[७]

सज्जनों की संगति श्रीवृद्धि में सहायक होती है। संत इमर्सन ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है।[८]

---

१. महानुभावः प्रतिहन्ति पौरुषम् ।। १४.४३ किरात

२. क इव नाम बृहन्मनसां भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववतां क्षमः ।।
१८.३ किरात

३. न्यायाधाराः हि साधवः । ११.३० किरात

४. सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि साधवः । १४.१ किरात

५. सतां हि वाणी गुणमेव भाषते । १४.११ किरात

६. व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया । १४.१४ किरात

७. "With malice towards none, with charity for all, with firmness in the right, as God gives us to see the right, let us strive to finish the work we are in".
Abraham Lincon, Second Inaugural Address.

८. 'Life would be twice or ten times life,
If spent with wise and fruitful companions.
Emerson, Consideration by the WAY.

भारवि ने महान् पुरुषों की जीवन की सफलता का रहस्यान्वेषण करते हुए संगति को विशेष महत्व दिया। किसी भी स्थिति से सुजनता का व्यतिक्रम उचित नहीं क्योंकि सुजनता का लंघन करना अनर्थकारी होता है।[1] जितेन्द्रियता के द्वारा ही सज्जन अपनी रक्षा करने में समर्थ हो जाते हैं।[2] उनके मन में सुखों के उपभोग की इच्छा लक्ष्य सिद्धि से पहले उत्पन्न होती ही नहीं।[3] और इसी कारण उनके लिए कुछ भी अलभ्य नहीं[4]।

जिस प्रकार सज्जनों की संगति कल्याण का साधन होती है उसी प्रकार दुष्टों की संगति सदा ही विजय में बाधक और सर्वनाशक विपत्तियों का स्थान होती है।[5] इसी कारण अपने से नीच व्यक्तियों का साथ कभी न करे। दुष्टों का सम्पर्क सर्वत्र ही सत्कार्य में बाधक होता है जैसा कि कवि का कथन है। सत्य ही असत्पुरुषों की मैत्री नदी के तट प्रदेश की छाया के समान है जिसके सेवन से अनर्थ की सम्भावना बनी रहती है।[6] क्योंकि ये असज्जन गुणग्राही नहीं होते और इसी कारण ये सज्जनों के स्वाभाविक शत्रु होते हैं।[7]

---

१. दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः ।। १४.९ किरात

२. प्रभवति न तदा परो विजेतुं भवति जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा।
१०.३५ किरात

३. ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः ।।
१०.६२ किरात

४. किमिवास्ति यन्न सुकरं मनस्विभिः ।। १२.१०

५. असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि ।।
३.१४ किरात

Company—villainous company has been the sprite of me. Shakespeare—Henry III

६. असन्मैत्री हि दोषाय कूलच्छायेव सेविता ।। ११.१५ किरात

७. गुणार्जनोच्छ्रायविरुद्धबुद्धयः प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः ।। १४.२१ किरात

तुलनीय :

(क) दुर्वृत्तसंगतिरनर्थपरम्पराया हेतुः सतां भवति किं वचनीयमत्र।
लंकेश्वरो हरति दाशरथेः कलत्रं
प्राप्नोति बन्धनमसौ किल सिन्धुराजः ।।
हनुमत्कविकृत महानाटक ४०८।

(ख) असत्संगाद्गुणज्ञोऽपि विषयासक्तमानसः।
अकस्मात्प्रलयं याति गीतरक्तो यथा मृगः। शार्ङ्गधरपद्धति

एक भिन्न स्थल पर दुर्जनों के साथ मैत्री को हेय बताते हुए भारवि ने सज्जनों के लिए हाथी तथा दुर्जनों के लिये शृगाल की उपमा देते हुए दोनों की संगति का निषेध किया है।[१]

दुर्जनमैत्री हेय क्यों? इस पर विचार करते हुए भारवि कहते हैं कि ये लोग दूसरों की उन्नति से जलते हैं अतएव इन दुष्ट दुरात्माओं के लिए धर्म की कोई ऐसी सीमा नहीं जिसका ये उल्लंघन न कर सकें।[२] दुर्जनों के लिए शठता का आचरण बहुत सरल होता है। वे कपट व्यवहार से सज्जनों को वंचित कर उनके रहस्य ज्ञात होने के पश्चात् सज्जनों के लिए घातक बन जाते हैं।[३] दुष्ट व्यक्तियों की दुर्बुद्धि स्वयं उनके लिए भी आपत्तियों को निमंत्रण देनेवाली होती है।[४]

भारवि ने नीति तथा सामान्य व्यवहार के सम्बन्ध में अनुभवों के फल-स्वरूप बनी धारणाओं एवं मान्यताओं को अर्थान्तरन्यास द्वारा भावगाम्भीर्य और लालित्य सहित प्रकट किया है।

सामान्य व्यवहार के सम्बन्ध में भारवि का यह विचार है कि यदि कोई व्यक्ति हमारा हितैषी है तो वह अप्रिय पर हितकर बात को भी कह ही देगा। उसे व्यथा का भार कहने से रोकेगा नहीं।[५]

यह भी सामान्य अनुभवगम्य विषय है कि हितकारिता तथा मनोहारिता का वचनों में योग दुर्लभ होता है।[६] दुष्टों के साथ मित्रता की अपेक्षा सज्जनों के साथ वैर भी कभी-कभी ऐश्वर्य वृद्धि का कारण बन जाता है।[७]

(ग) पात्रमपात्रीकुरुते दहति गुणं स्नेहमाशु नाशयति।
अमले मलं नियच्छति दीपज्वालेव खलमैत्री ॥ शार्ङ्गधरपद्धति

(घ) अहो दुर्जनसंसर्गान्मानहानिः पदे पदे।
पावको लोहसंगेन मुद्गरैरभिहन्यते ॥
दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिश्चापि न कारयेत् ॥ हितोपदेशे १.८०

१. सहापकृष्टैर्महतां न संगतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः ॥
१४.२२ किरात

२. परवृद्धिषु बद्धमत्सराणां किमिव ह्यस्ति दुरात्मनामलंघ्यम् ॥
१४.२२ किरात

३. प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृतांगान्निशिता इवेषवः ॥ १.३०

४. आपदेत्युभयलोकदूषणी वर्तमानमपथे हि दुर्मतिम् ॥ १३.६४ किरात

५. न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः। १.२

६. हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥ १.४ किरात

७. वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥ १.८ किरात

यद्यपि अपने से बलवान के विरोध का अन्त करना कठिन होता है।[1] पर अनुत्साही होकर प्रमादवश प्रयत्नविरत होने से वैर का निर्वाह एवं वैरशोधन का उपाय करना ही अधिक उत्तम है। दैनिक जीवन में ऋजुता के स्थान पर शठों के साथ शठता का आचरण अपनी रक्षा के लिए आवश्यक हो जाता है।[2]

भारवि का कहना है कि कभी-कभी छोटों की या जिन्हें हम हेय दृष्टि से देखते हैं उनकी सम्मतियां भी समस्या का समाधान करने वाली हो जाती हैं अतः वक्ता की ओर ध्यान न देकर वक्तव्य की ओर ध्यान देना चाहिए।[3]

समृद्धि-प्राप्ति के इच्छुक के लिये पुरुषार्थ का आश्रय कभी न छोड़ना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि सम्पत्तियां भी तो पराक्रमी व्यक्ति का ही आश्रय लेती हैं।[4] समृद्धियों की प्राप्ति के लिए उत्साह अपेक्षित है।

साधारणतया प्रत्येक कार्य अच्छी तरह सोच समझ कर किया जाना चाहिए। भारवि ने इसका विवेचन किया है। उनके अनुसार अविवेक अनेक आपदाओं को जन्म देता है। इसके विपरीत सोच विचार कर कार्य करने वाले को सम्पत्तियां स्वयं मनोनीत करती हैं।[5] विश्वविख्यात व्यवहारकुशल लार्ड चेस्टरफील्ड ने एक पत्र में इस नीति का समर्थन किया। उनका विचार है कि अविवेकशील कार्य अनिवार्यतः अहितकर होता है।[6] लार्ड वेकन ने भी यह संकेत किया है कि अधिक शीघ्रता का परिणाम सदैव सर्वत्रैव भयावह ही होता है।[7]

---

१. अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ।। १.२३ किरात

२. प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृतांगान्निशिता इवेषवः ।।
१.३० किरात

३. ननु वक्तृविशेषनिस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ।। २.५ किरात

४. निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ।। २.१५ किरात
'Fortune & love favour the bold'—DAVID (Latin).

५. सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ।। २.३०

६. "A man af sanse may be in a haste but never in a hurry, because he knows that whatever he does in a hurry, he must necessarily do very ill."
BACON : Advancement of Learning.

७. It is in life, as it is in ways, the shortest way is commonly the foulest.
BACON : Advancament of Learning.

भारवि का विचार है कि अपने भुजबल से उपार्जित ऐश्वर्य का उपभोग ही श्रेयस्कर होता है। दूसरों के द्वारा प्राप्त की गई सम्पत्ति का उपभोग तो परसुखापेक्षिता की श्रेणी में है जो सदा ही गर्हित है। स्वयं संघर्षों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् सफलता का आनन्द अन्य ही प्रकार का होता है। अन्य की सहायता से अभ्युदय की अभिलाषा तो कभी करनी ही नहीं चाहिए।[1]

मानहानि की अपेक्षा प्राणत्याग अधिक सुकर होता है[2] क्योंकि मान के नष्ट हो जाने पर जीवित रहना जीवन नहीं। किसी भी कार्य की सफलता के लिये बुद्धि के अज्ञान का नाश आवश्यक होता है।[3] अज्ञान अथवा मोह का कारण क्रोध होता है जिसको जीतने के पश्चात् अज्ञानरूपी तम बुद्धि को आक्रान्त नहीं करने पाता। अज्ञान के नाश न होने से व्यक्ति शूरवीर भी प्रभु, मन्त्र एवं उत्साह शक्ति से विहीन हो जाता है।

भारवि ने दैनिक जीवन में वीतराग तपस्वियों के हृदय में असावधानी के कारण निर्बन्ध स्थान में रहने पर भी रागद्वेष का प्रवेश होते देखा था।[4] कारण कि उनका मानस भी तो मानस है, उसमें भी पक्षपात होता है। पर यह पक्षपात या राग गुणों के कारण होता है, प्रतिहिंसा आदि के कारण नहीं। व्यवहारकुशलता का प्रमाण है अवसर का ज्ञान तथा चेष्टाओं से भावों को पहचानने की शक्ति। जो व्यक्ति इंगितज्ञ होता है वही अवसर का यथोचित उपयोग कर सकता है।[5] मानव अपने व्यवहार में जब किसी वस्तु के प्रति मन का विशेष पक्षपात अनुभव करता है या किसी व्यक्ति के प्रति स्नेह रखता है तो उसका कारण चिरकालीन परिचय नहीं, उस वस्तु या व्यक्ति विशेष के गुण होते हैं।[6]

व्यावहारिकता के क्षेत्र में मुखरता विशेष प्रशंसनीय नहीं, सम्भवतः भारवि इस विचार के पक्षपाती हैं। स्वभाव का गाम्भीर्य अधिक प्रशंसनीय होता है। साधारण व्यक्ति अपने भावों को आवश्यकता होने पर भी छिपा नहीं पाते किन्तु स्वभावगाम्भीर्य के कारण ही महान् व्यक्तियों के मनोभावों का ज्ञान सरलता से नहीं हो पाता। गाम्भीर्य और मुखरता ही महान् और साधारण का भेद करती है। साथ ही भारवि यह स्वीकार करते हैं कि अवसर विशेष पर मुखरता भी शोभित

---

१. लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥ २.१८ किरात

२. अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः ॥ २.२० किरात

३. अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते ॥ २.३६ किरात

४. मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ॥ ३.५३ किरात

५. न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति । ४.२० किरात

६. गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः ॥ ४.२५ किरात

होती है[1] अनवसर में भले ही दोष हो। कवि को अकारण वैरियों की सत्ता का भी अनुभव है इसी कारण वह कहता है कि बिना विघ्नों के किसी भी कल्याण की प्राप्ति नहीं हो पाती चाहे प्राकृतिक बाधायें न भी हों तो भी अकारण शत्रुकृत अन्तराल तो हो ही सकते हैं।[2]

दया, दाक्षिण्य, धैर्य, मनस्विता, तेजस्विता, जितेन्द्रियता आदि गुणों की सम्पत्ति का अधिकारी व्यक्ति ही व्यवहारकुशल हो सकता है। उसका प्रभाव अप्रतिहत होता है तथा सभी उससे आक्रान्त होते हैं। प्रशंसा का प्रयोग कार्यकुशलता की वृद्धि करता है। किसी कार्य में नियुक्त व्यक्ति के नैपुण्य की नियोक्ता द्वारा थोड़ी सी स्तुति उसके नैपुण्य तथा तत्परता को द्विगुणित कर देती है।[3]

इस संसार में अनेक व्यक्ति ऐश्वर्यशाली होते हैं पर उनकी सम्पत्ति की सार्थकता उपयोग से ही होती है। भारवि के मत में वही सम्पत्ति सम्पत्ति है जो दूसरों का उपकार करे। अपने उपयोग में आने के साथ यदि वह सम्पत्ति अधिक क्षेत्रीय व्यक्तियों के उपकार में प्रयुक्त हो सके तो उसकी सार्थकता और अधिक है।[4] कोई भी व्यक्ति अपने में पूर्ण नहीं होता। दिन प्रतिदिन के व्यवहार कार्यकलाप की पूर्ति के लिए भी सहायता की आवश्यता ही पड़ती है। बिना सहायक के तो किसी को भी श्रेयस् की प्राप्ति नहीं हो सकती।[5]

कवि की अनुभूति की वास्तविकता की प्रतीति तो यहां होती है—सभी लोग अपने वर्ग का हित चाहते हैं।[6] इसीलिए शृंगार के क्षेत्र में भी 'सुन्दरता' स्त्रियों के सौन्दर्य को क्रोधादि के कारण विकृत नहीं होने देती तथा 'मदराग' पुरुषों का उपकार करते हुए स्त्रियों को उनकी वशवर्तिनी बना देता है। सामान्य व्यवहार के क्षेत्र के 'अपने वर्ग का हित करने वाले' स्वाभाविक सत्य-सिद्धान्त का दर्शन कर, कवि ने कितने सुन्दर शब्द चयन द्वारा ललित प्रसंग में उस सिद्धान्त को उपस्थित किया है।

सम्भवतः कवि को स्वयं कटु अनुभव हुआ था कि विपत्ति में कौन किसका

---

१. मुखरताऽवसरे हि विराजते ।। ५.१६ किरात

२. प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि
श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः ।। ५.४९ किरात

३. सम्भावना ह्यधिकृतस्य तनोति तेजः ।। ६.४६ किरात

४. सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम् ।। ७.२८ किरात

५. ओजसापि खलु नूनमनूनं नासहायमुपयाति जयश्रीः । ९.३३ किरात

६. आत्मवर्गहितमिच्छति सर्वः ।। ९.६४ किरात

साथ देता है ? जब चन्द्रोदय के समय कमलों ने प्रफुल्लता का त्याग किया तो कमलों की शोभा भी कमलों का त्याग कर तारकित आकाश मंडल में आश्रित हो गई ।[1] सभी सुखपूर्ण स्थान चाहते हैं । कितना वास्तविक तथ्य है । आपत्ति में अपनी छाया भी अपना साथ छोड़ देती है फिर अन्यों का क्या कहना ?

विजय के लिए भारवि 'प्रकर्ष के अधीन विजय होती है' यह मानने के साथ-साथ यह भी स्वीकार करते हैं कि 'प्रभुजनों की बुद्धि मार्गानुसारिणी होती है ।' नीति के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्व है मनस्विता, स्वाभिमान एवं कर्त्तव्यपरायणता का । अपमान को सहते जाना किसी को भी स्वीकार्य नहीं हो सकता ।[2] दुष्टों के साथ दुष्टता का व्यवहार ही उचित होता है क्योंकि वे ही घातक बन जाते हैं ।[3] जहां तक राजनीति का क्षेत्र है वहां तो साध्य की सिद्धि में साधनों के औचित्यानौचित्य का प्रश्न ही नहीं, विजय प्राप्ति और शत्रु का नाश ही परम लाभ है ।[4] जो लोग दूसरों का उपकार करने के लिए कटिबद्ध रहते हैं वे कष्ट दिए जाने पर भी अपने विचार परिवर्तित नहीं करते ।[5] यदि कोई व्यक्ति यह विचार करे कि नीति पथ का उल्लंघन करने से सफलता शीघ्र मिलेगी तो विचार गलत ही होगा क्योंकि विजयेच्छु तो कभी नीति पक्ष से विचलित होता ही नहीं ।[6] व्रत के पालन में जो प्रसन्नता है उसमें विकृति का स्थान ही कहां ? जितेन्द्रियता के द्वारा अपनी रक्षा पूर्णतः निश्चित रहती है क्योंकि इन्द्रियों की विजय से जब व्यक्ति अपने को संयत रखता है तो शत्रु उसका कुछ भी अपकार नहीं कर पाते ।[7]

पारस्परिक मतभेद की सत्ता ही सब कार्यों में असफलता का कारण होती है ।[8]

---

१. स्पष्टतारकमियाय नभःश्रीर्वस्तुमिच्छति निरापदि सर्वम् ।।
९.१६ किरात

२. सहते न जनोऽप्यधःक्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम् ।
२.४७ किरात

३. प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ।
१.३० किरात

४. परमलाभमरातिभङ्गमाहुः ।। १३.१२ किरात

५. युक्तानां खलु महतां परोपकारे कल्याणीभवति रुजत्स्वपि प्रवृत्तिः ।
७.१३ किरात

६. चलति नयान्न जिगीषतां हि चेतः ।। १०.२९ किरात

७. प्रभवति न तदा परो विजेतुं भवति जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा ।
१०.३५ किरात

८. बलवदपि बलं मिथोविरोधि प्रभवति नैव विपक्षनिर्जयाय ।
१०.३७ किरात

इसी कारण जब किसी राज्य में आन्तरिक व्यवस्था के निर्णायक तत्त्वों में ऐकमत्य नहीं रहता तो शीघ्र ही पतन का आरम्भ हो जाता है। समस्त अस्थिरताओं के मध्य न्याय का अनुसरण ही स्थिर तत्त्व होता है।[1] भारवि व्यक्ति की महत्ता का मापदंड उसके आन्तरिक गुणों के भार को मानते हैं, क्योंकि अन्तःसार (सारयुक्त) पदार्थ ही अधिक गुरु होता है।[2]

भारवि के मत में अज्ञानता तो क्षम्य होती है[3] वह अनेक दोषों को छिपा लेती है पर दक्षता नहीं। जो व्यक्ति यह जानता न हो कि वह अपराध कर रहा है तो वह क्षम्य होगा पर जान कर भी अनजान बने तब उसका कृत्य दंडनीय होगा ही। बार-बार कोई अपराध करे तो धैर्यशाली भी क्षुब्ध हो जायगा। किसी भी स्थिति में सुजनता का त्याग अनर्थकारी होता है।[4] किसी भी न्याय से सुजनता-त्याग का समर्थन नहीं किया जा सकता। आपत्ति को आमंत्रित करने का एकमात्र कारण सदा सज्जनता का अतिक्रम ही होता है। सज्जनों का एकमात्र आभूषण अपने व्रत की रक्षा करना होता है।[5] जो एक बार निश्चय कर लिया उसकी पूर्ति करके ही विश्राम किया।

भारवि ने जीवन में सफलता के लिए उद्योग को प्रधानता स्वीकार की है। उनका स्पष्ट मत है कि पुरुषार्थ और पराक्रम में निवास करने वाली सिद्धियां कभी भी निरुत्साही व्यक्ति के पास नहीं रहतीं।[6]

युद्ध में विजयश्री उत्कर्ष के अधीन रहती है[7] किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि हितकारी उपायों के रहते हुए भी विघ्न-बाधाओं के बिना कल्याण की

---

१ न्यायाधारा हि साधवः ॥ ११.३० किरात

२. गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः ॥ १२.१० किरात

३. अक्षमिष्ट तदयं प्रमाद्यतां संवृणोति खलु दोषमज्ञता ॥ १३.६३ किरात

४. दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः ॥ १४.९ किरात

५. व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया ॥ १४.१४ किरात

६. निवसन्ति हि पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ॥ २.१५ किरात

(क) उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ पञ्चतन्त्र २.१३८

(ख) उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ पञ्चतन्त्र

७. अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः ॥ ३.१७ किरात

प्राप्ति असंभव है।[1] अर्थात् विघ्न सर्वत्र सुलभ हैं पर उद्योगी व्यक्ति उनसे भयभीत नहीं होता। कवि का यह विश्वास है कि उद्योगी पुरुष बाधाओं पर विजय प्राप्त करता हुआ दुर्गम लक्ष्य को भी अवश्य प्राप्त करता है। उसके लिए कुछ भी असाध्य नहीं।[2] बर्टन ने उद्योग को सभी अच्छी वस्तुओं की प्राप्ति का साधन माना है। होमर के अनुसार उद्योग ही भाग्य है।

भारवि ने प्रधानतया भाग्यवादी न होते हुए भी यत्र तत्र दैव की सत्ता स्वीकार की है। जीवन की सफलता के लिए वे उद्योग को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं पर किन्हीं अंशों में दैव को भी स्वीकार करते हैं। दैव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता तभी तो वियोग के अनिच्छुक चक्रवाक वियुक्त हो ही गए।[3] शेक्सपीयर ने भी कहा है कि हमारे कार्यों का अन्त दैव संचालित होता है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी इस सत्य का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि

---

१. प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि
श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः ।। ५.४९ किरात
(क) न दैवमिति सञ्चित्य त्यजेदुद्योगमात्मनः ।
अनुद्यमेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ।। पञ्चतन्त्र
(ख) यथा मृत्पिण्डतः कर्त्ता कुरुते यद्यदिच्छति ।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ।।

२. न हि जयिनां तपसामलंघ्यमस्ति ।। १०.६ किरात
"Industry is a loadstone to draw all good things."
Burton, Anatomy of Melancholy.
"Labour conquers everything." VIRGIL.
"Toil is the lot of all"—Homer, Iliad.

३. आपुरेव मिथुनानि वियोगं लङ्घ्यते न खलु कालनियोगः। ९.१३ किरात
(क) "There is a divinity that shakes our ends."
Shakespeare, Hamlet.
(ख) "A picket frozen on duty
A mother starved for her breed,
Socrates drinking the hemlock
And Jesus on the rood
And millions who humble and nameless
The straight hard pathway trod
Some call it consecration & others call it God."
W. H. CARRUTH : Evolution.

भाग्य अथवा दैवेच्छा अपरिहार्य है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए भारवि कहते हैं कि राजा युधिष्ठिर ने समस्त राज्य को स्वयं अपने तथा अपनी पत्नी को भी दांव पर लगा दिया। निश्चय ही यह भवितव्यता ही थी जिसके कारण उनकी बुद्धि भ्रष्ट हुई।[1]

भारवि ने अन्य स्थल पर इसी भवितव्यता को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि अनीति की भयंकरता से परिचित होकर भी मनुष्य की बुद्धि विनाश के समय विपरीत हो जाती है।[2] उद्योग की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी दैव की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया।

भारवि का विश्वास है कि उद्योगी पुरुष के लिए कुछ भी अलभ्य नहीं।[3] उसकी सफलता असफलता में दैव का स्थान गौण है। एक अंग्रेजी लेखक ने भी कहा है कि मनुष्य सभी भौतिक शक्तियों से ऊपर है और वह अपने मार्ग का निर्माण स्वयं कर लेता है। यह मानते हुए कवि भवितव्यता से अपने को मुक्त

---

१. दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा राज्यमात्मा वयं वधूः।
नीतानि पणतां नूनमीदृशी भवितव्यता।। ११.४७ किरात
तुलनीय :
(क) तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः।
सहायास्तादृशाश्चैव यादृशी भवितव्यता।। चाणक्यनीति ६६
(ख) अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना।। नैषध

२. विजानतोऽपि ह्यनयस्य रौद्रतां भवत्यपाये परिमोहिनी मतिः।
१४.१९ किरात
(क) न भूतपूर्वो न च केन दृष्टो हेम्नः कुरंगो न कदापि वार्ता।
तथापि तृष्णा रघुनन्दस्य विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।।
(ख) असंभवं हेममृगस्य जन्म तथापि रामो लुलुभे मृगाय
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिनीभवन्ति।।
हितोपदेश १.२४

३. किमिवास्ति यन्न सुकरं मनस्विभिः।। १२.६ किरात
"Man is his own star,
And that the soul can render,
An honest and perfect man
Commands all light, all influence all fate,
Nothing to him falls early or too late."
John Fletcher : Upon the honest Man's fortune.

नहीं कर पाता ।[1] उद्यम और दैव दोनों का ही समान महत्व है क्योंकि :
"यथाह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्। एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्धयति ।।"

याज्ञवल्क्यस्मृति १।३५१

राजनीति में राष्ट्रों के परस्पर संगठन का विशेष महत्व होता है । सामाजिक जीवन में भी हम संगठित होकर अधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं । भौतिक पदार्थों में भी सहभाव का विशेष महत्व है इसलिए भारवि ने भी संहति पर विशेष बल दिया है । उनका कहना है—"ओज से सम्पन्न होने पर भी असहाय व्यक्ति के पास जयश्री नहीं जाती ।" यह निर्विवाद सत्य है ।[2] एक दूसरे स्थल पर भारवि ने कहा है कि कार्य की सिद्धियां सर्वदा सहायक सामग्री की अपेक्षा रखती हैं अतः वे महान् लोगों को भी संघवृत्ति का आश्रय लेने की प्रेरणा देती हैं ।[3] बलवती सेना भी आपस में विरोध होने पर शत्रु को पराजित करने में समर्थ नहीं हो सकती ।[4] यहां एक ही विषय को विरोधी ढंगों से प्रतिपादित करने में कवि का उद्देश्य संभवतः यही है कि बिना संहति के सफलता नहीं हो सकती ।[5] संहति शक्ति तथा विरोध को इसका विपर्यय कह सकते हैं ।[6] संहति

---

१. भगवन्तौ जगन्नेत्रे सूर्याचन्द्रमसावपि ।
पश्य गच्छत एवास्तं नियतिः केन लङ्घ्यते ।। शार्ङ्गधरपद्धति
अवश्यम्भाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः ।। हितोपदेश

२. ओजसापि खलु नूनमनूनं नासहायमुपयाति जयश्रीः । ९.३३ किरात

३. महोदयानामपि सङ्घवृत्तितां सहायसाध्याः प्रदिशन्ति सिद्धयः ।।
१४.४४ किरात

४. बलवदपि बलं मिथोविरोधि प्रभवति नैव विपक्षनिर्जयाय ।।
१०.३७ किरात

५. (क) संहतिः श्रेयसी राजन्विगुणेष्वपि बन्धुषु ।
तुषैरपि परिभ्रष्टा न प्ररोहन्ति तंडुलाः ।। १.३६ हि०
(ख) अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका ।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ।। हितोपदेश १.३०
(ग) बहूनामल्पसाराणां समवायो दुरत्ययः ।
तृणैर्विधीयते रज्जुर्बध्यन्ते तेन दन्तिनः ।। भोजप्रबन्ध १४५

६. "United we stand, divided we fall."
Motto of the State of 8 Kentucy.
"All your strength is in your union."
Longfellow—HIAWATHA.

को स्वीकार करते हुए भी भारवि गुणों की अपेक्षा उसे हीन कहते हैं। गुणों अर्थात् आन्तरिक शक्ति से गुरुता प्राप्ति होती है संहति से नहीं।[1] गुणों की महत्ता के संबंध में उनका कथन है कि गुण किसको वश में नहीं करते।[2] प्रीति के प्रसंग में भी वे गुणों को ही अधिक प्रधानता देते हैं परिचय को नहीं।[3] भारवि का सिद्धान्त है: "गुणों का विकास तब तक नहीं हो सकता जब तक उसके विरोधी तत्व दोषों को दूर न कर लिया जाए। भगवान भास्कर भी अपनी कान्ति से रात्रि के अन्धकार को नष्ट किए बिना नहीं उदित होते।[4] गुणों के कारण ही वीतराग मुनियों के मन में भी सज्जनों के लिए पक्षपात हो जाता है।[5] दोषों व गुणों दोनों की सत्ता रहने पर यदि दोष अल्पमात्रा में हैं तो ये अपना प्रभाव नहीं दिखाते। इसी को भारवि ने इन शब्दों में कहा है कि थोड़ा सा अपराध बड़े उपकार को नष्ट नहीं करता।[6] किन्तु यदि वह दोष सज्जनों की मर्यादा का उल्लंघन करता है तो छोटा होने पर भी अपना प्रभाव दिखलाता ही है।[7]

विश्व के समस्त पदार्थों या व्यक्तियों की वास्तविक शोभा कब और कैसे होती है इस विषय में भारवि का कथन है कि भौतिक पदार्थों की वास्तविक शोभा इसी में है कि उनसे दूसरों का उपकार हो सके।[8] भौतिक पदार्थों में रमणीयता का हेतु उस पदार्थ का प्रिय से समागम ही होता है।[9] इन दोनों ही सिद्धान्तों का हम लोकजीवन में भिन्न भिन्न अवसरों पर साक्षात्कार करते हैं। कवि ने इन असम्बद्ध मान्यताओं को दो भिन्न अवसर विशेषों पर स्वीकार किया है।

भारवि के चिन्तन की ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तब हमें उनके अर्थान्तरन्यास तप, प्रभाव, सज्जनता, एकनिष्ठा आदि के समर्थक प्रतीत होते हैं। वीतराग मुनिजनों के मानस स्वभावतः सरल होते हैं। उन पर सरलता से अधिकार किया जा सकता है। फिर यदि कोई सुखाभिलाषी हो तब तो उसके

---

१. गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः ॥ १२.१० किरात

२. रजयाञ्चकार विरजाः स मृगान् कमिवेशते रमयितुं न गुणाः ॥ ७.२४ किरात

३. गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः ॥ ४.२५ किरात

४. अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते ॥ २.३६ किरात

५. वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः ॥

६. नाल्पीयान्बहु सुकृतं हिनस्ति दोषः ॥ ७.१५ किरात
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः ।

७. दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः ॥ १४.९ किरात

८. साफल्यं ययुरमरांगनोपभुक्ताः सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम् ॥ ७.२८ किरात

९. साधनेषु हि रतेरुपधत्ते रम्यतां प्रियसमागम एव । ९.३५ किरात

मानस को वश में करना बहुत सुगम होता है।[1] मुक्तिमार्गी तथा सुखार्थी मुनियों में भेद होता है क्योंकि मुमुक्षु तो फिर भी अधिक दृढ़ होते हैं।[2] तपस्वियों के लिए कुछ भी दुष्कर नहीं होता।[3] साथ ही उनका समाधिभंग अत्यंत कठिन होता है। रजोगुण तथा तमोगुण पर विजय प्राप्त करने के बाद ही वह स्थिति आती है कि मुक्ति प्राप्त हो सके।[4]

भारवि के अर्थान्तरन्यास उनकी जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के विषय में बनी हुई धारणाओं और मान्यताओं को लालित्य, अर्थगाम्भीर्य एवं सूक्ष्म चिन्तन की प्रभविष्णुता के साथ प्रकट करते हैं।

भारवि की श्री साधना

"श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं" किरातार्जुनीय के इस प्रारम्भिक श्लोक में 'श्री' शब्द तथा प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'लक्ष्मी' शब्द का विन्यास निश्चित रूप से भारवि के किसी विशिष्ट मन्तव्य की ओर संकेत करता है। यही नहीं, महाकाव्य के सम्पूर्ण अर्थान्तरन्यास विशिष्ट श्लोकों को इस श्रीसाधना का अविच्छिन्न प्रवाह एक निरन्तर चलने वाला कथानक भी मिलता है। यदि अर्थगौरवप्रिय भारवि ने अपनी सर्वाधिक प्रियवस्तु को सर्वोत्तम साधन अर्थान्तरन्यासों के माध्यम से सम्पूर्ण महाकाव्य में जारी रक्खा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यहां प्रारम्भ के 'श्री' शब्द का मंगलाचरणमात्र तथा सर्गान्त के 'लक्ष्मी' शब्द का केवल 'मंगलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते' ही प्रयोजन नहीं है, यदि केवल इतना ही उद्दिष्ट रहा होता तो फिर अर्थान्तरन्यासों के माध्यम से सम्पूर्ण महाकाव्य में इस श्रीसाधना की परम्परा को प्रवाहित रखने की क्या आवश्यकता थी?

प्रथम सर्ग में अर्थान्तरन्यास विशिष्ट श्लोकों में श्री साधना की एक विशिष्ट भूमिका क्रमबद्ध रूप में दृष्टिगत होती है। यही नहीं सर्ग के अन्तिम श्लोक में द्रौपदी द्वारा श्री प्राप्ति के लिए कामना भी की गई है। ग्रन्थ के अन्य सर्गीय अर्थान्तरन्यासविशिष्ट श्लोकों में क्रमबद्ध रूप में तथा प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोकों में क्रमशः श्री का उदय दिखलाते हुए महाकाव्य के अन्त में काव्यनायक अर्जुन को 'श्रीमान्' के रूप में चित्रित किया गया है जिसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारवि ने किरातार्जुनीय महाकाव्य में अपने प्रिय अलङ्कार अर्थान्तरन्यासों को साधन बनाकर श्री की ही साधना की है।

---

१. हृतवीतरागमनसां ननु वः सुखसङ्गिनं प्रति सुखावजितिः॥ ६.४३ किरात
२. न हि जयिना तपसामलङ्घ्यमस्ति॥ १०.६ किरात
३. किमिवास्ति यन्न तपसामदुष्करम्॥ १२.२९ किरात
४. ईप्सितस्य न भवेदुपाश्रयः कस्य निर्जितरजस्तमोगुणः॥ १३.४० किरात

शब्दकोष के अनुसार 'श्री' शब्द यद्यपि १५ से अधिक अर्थों में प्रयुक्त होता है। किन्तु भारवि ने निम्नलिखित अर्थों में 'श्री' का प्रयोग किया है :

(१) श्री, लक्ष्मी, समृद्धि। (३) यौवन श्री।
(२) विजय श्री। (४) सौन्दर्य श्री (शोभा)।

इस प्रकार एक ओर जहां भारवि ने 'श्री' शब्द का लक्ष्मी तथा शोभा जैसे रूढ़ अर्थों में प्रयोग किया वहीं 'विजयश्री' तथा 'यौवनश्री' जैसे नवीन अर्थों में भी प्रयोग कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इन सभी अर्थों में उन्होंने 'विजयश्री' को ही प्रधानता दी है।

किरातार्जुनीय में श्रीसाधना की प्रधानता के कारण ही सम्भवतः भारवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में श्री शब्द की योजना करते हुए श्री लाभ हेतु कर्त्तव्यों (वृत्ति) की समीक्षा का संकल्प लिया है[2] तथा अग्रिम श्लोक में अर्थान्तरन्यास द्वारा श्री के विरोधी प्रिय (काम) को निवारण योग्य स्वीकार किया है।

इसी प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि कठोपनिषद् में श्रेय और प्रेम के वैपरीत्य को स्वीकार कर प्रेम को हेय माना गया है। भारवि ने भी सम्भवतः उसी से प्रेरित हो उपर्युक्त श्री और प्रिय का विरोध मानकर "हितैषी लोग अनावश्यक तथा प्रिय भाषण पसन्द नहीं करते हैं" लिख डाला। उपर्युक्त कथन की वास्तविकता पर अधिक बल देने के लिए अर्थान्तरन्यासविशिष्ट अग्रिम श्लोक में हित और मनोहारि को दुर्लभ ही माना है।[3]

उनकी मान्यता है कि (श्री के हेतु) हितकारी बात न कहनेवाले को सेवक नहीं कहा जा सकता है और न ही हित के न सुनने वाले को स्वामी (प्रभु) कहा जा सकता है। (प्रिय को त्यागकर हित को अपनाने पर भी) नृप और अमात्य में यदि सदा अनुकूलता बनी रही तभी सम्पूर्ण सम्पत्तियां (श्री) प्राप्त हो सकती हैं।[4] अर्थान्तरन्यासविशिष्ट अग्रिम श्लोक को देखने से ज्ञात होता है कि श्री की साधना के लिए गुण सम्पत्ति तथा यश आवश्यक हैं तथा उपद्रव

---

१. (१) धन, सम्पत्ति, समृद्धि, (२) राजसी सम्पत्ति, (३) गौरव, उच्चपद, (४) सौन्दर्य, आभा, (५) रङ्ग, (६) धन की अधिष्ठात्री देवी, (७) कोई गुण या सत्कर्म, (६) सजावट, शृंगार, (९) बुद्धि, प्रतिभा, (१०) अलौकिक शक्ति, (११) धर्म, अर्थ और काम, (१२) सरल वृक्ष, (१३) बेल का पेड़, (१४) लवंग, (१५) कमल आदि। संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ।

२. श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुंक्त वेदितुम्।
१.१ किरात

३. हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः। १.४ किरात

४. किरात १.५।

रहित राज्यसत्ता भी ।[१] भारवि का वनेचर दूत पांडवों को उपर्युक्त श्री साधना के लिए स्पष्ट रूप से प्रेरित करता है ।

उपर्युक्त प्रसंग में ही उपस्थित द्वितीय पात्र द्रौपदी ने अर्थान्तरन्यास के माध्यम से श्री के लाभ हेतु मायावियों के प्रति मायावी बनना आवश्यक रूप से स्वीकार किया है तथा माना है कि ऐसा न करने पर जयश्री के स्थान पर पराभव की प्राप्ति होती है ।[२] अग्रिम अर्थान्तरन्यासीय श्लोक में द्रौपदी का यह भी कहना है कि द्रौपदी पांडवों की विपत्ति देखकर वेदना प्रकट करती है तथा उसके प्रति विद्रोह को आवश्यक स्वीकार किया है । साथ ही यह भी मानती है कि अतिरस्करणीय बल के रहते हुए कदाचित् प्राप्त पराभव भी वास्तव में उत्सव का हेतु होता है ।[३]

अपनी विद्रोह भावना को प्रकट करने के अनन्तर अग्रिम तीन श्लोकों में विभिन्न प्रकार से पांडवों को उत्तेजित तथा सर्ग के अन्तिम श्लोक में "प्रभात काल में तिमिरराशि पर विजय प्राप्त करने वाले सूर्य की भाँति शत्रु समूह पर विजय प्राप्त कर लक्ष्मी प्राप्त करे" यह कामना व्यक्त करती है ।

द्वितीय सर्ग में उपस्थित भारविनिबद्ध तृतीय वक्ता भीम भी द्रौपदी की भावनाओं का समर्थन करते हुए इष्ट गुण (श्री) की प्राप्ति के लिए पराक्रम पर बल दिया ।[४]

भीम के अनन्तर चतुर्थ वक्ता महर्षि व्यास के उपस्थित होने पर अंतिम श्लोक में भारवि ने उन्हें लक्ष्मी सहित मानकर मानो काव्यनायक को प्राप्त होनेवाली भावी श्री की ओर ही संकेत किया है ।[५]

तृतीय सर्ग में महर्षि व्यास ने भी श्री साधना के हेतु पांडवों को उत्साहित किया तथा पांचों पांडवों में से अर्जुन को इस कार्य के लिए सबसे अधिक उचित समझा तथा उपासना के मार्ग का निर्देश कर तपस्या के लिए इन्द्रकील पर्वत पर जाने की सम्मति दी । अर्जुन के प्रस्थान के लिए उद्यत होने पर स्वर्ग में देवताओं का दुन्दुभी बजाना, उनके द्वारा की गई पुष्पवृष्टि से आकाश का अलंकृत (लक्ष्मीयुक्त) हो जाना इत्यादि बातें मानों काव्य के नायक के समक्ष ही श्री (लक्ष्मी) को ला उपस्थित करती हैं ।[६]

---

१. किरात १.८, २३ । २. १.३० ।

३. १.४२, ४३, ४५ ।

४. द्वितीय सर्ग के अर्थान्तरन्यास विशिष्ट समस्त श्लोक २.५, १५, १८, २०, २१, ३०, ३६, ४७, ५२ ।

५. लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशांकमूर्तेः ।

६. अनुजगुरथ दिव्यं दुन्दुभिध्वानमाशाः सुरकुसुमनिपातैर्व्योम्नि लक्ष्मीर्वितेने ।

महर्षि व्यास के उपदेशानुसार तपस्यार्थ अर्जुन के इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचते ही वहां पर शस्य श्यामला धरती तथा सुरभित सरोजों की रमणीय शोभा का दर्शन होता है। कवि ने इसका निदर्शन करते हुए उसमें भी लक्ष्मी का (श्री का) साक्षात्कार किया है जो अर्जुन के 'श्री' लाभ के सम्बन्ध में पूर्व सूचना सी है। सर्ग के अन्तिम श्लोक में पर्वतीय शोभा को देखते हुए अर्जुन बलराम की लक्ष्मी (श्री) का स्मरण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो अर्जुन को अपनी अभीष्ट लक्ष्मी के ही दर्शन हो रहे हैं।[1]

पंचम सर्ग के अन्तिम श्लोक में भी महाकवि ने अर्जुन के लिये आकृष्ट लक्ष्मी का विशेषण देते हुए अपनी श्री साधना को ही आगे बढ़ाया है।[2]

छठे सर्ग में सफलता के पूर्व साधना में बाधक, इन्द्र प्रेषित अप्सराओं का वर्णन कवि ने किया है। इसी प्रसंग में सर्ग के अन्तिम श्लोक में "लक्ष्मीहारि" शब्द का प्रयोग करके कवि ने मानो एक बार पुनः संकेत किया है कि अर्जुन अवश्य ही अपनी तपस्या के परिणाम स्वरूप लक्ष्मी को प्राप्त करेंगे।[3]

सप्तम सर्ग में अप्सराओं के पहुँचने पर समस्त वन उपवन वसन्त की शोभा से अलंकृत हो उठते हैं। कवि ने यहां भी वन वृक्षों में लक्ष्मी उदय का वर्णन करते हुए अर्जुन के समीप पहुँचती हुई लक्ष्मी का ही वर्णन किया है।[4]

अष्टम सर्ग में अप्सरायें गन्धर्वों के साथ विविध क्रीड़ाएं करती हुई जल-विहार में भी संलग्न होती हैं। फलस्वरूप जलाशय भी कवि के अनुसार शयनीय लक्ष्मी का रूप धारण कर लेता है, मानो अर्जुन के समीप पहुँचती हुई लक्ष्मी का यह अग्रिम पग है।[5]

दशम सर्ग में अप्सरायें असफल प्रयत्न हो निराश लौट जाती हैं। ठीक ही है, जब अर्जुन शत्रु का उन्मूलन कर विजय लक्ष्मी को प्राप्त करना चाहते हैं तो विजय लक्ष्मी अन्य किसी को प्राप्त ही कैसे हो सकती है।[6]

११ वें सर्ग में अर्जुन की तपस्या से प्रसन्न होकर इन्द्र उनके सम्मुख उपस्थित होते हैं तथा वरदान देते हुए कहते हैं कि तुम शत्रुओं की लक्ष्मी को निश्चय ही अपनी प्राप्ति के लिये उत्सुक बनाओगे।[7]

---

१. ......अनुसस्मार लक्ष्मीमसितमधरवासो बिभ्रतः सीरपाणेः। ४।३८

२. ५।५२।

३. ६।४७।

४. जज्ञे निवेशनविभागपरिष्कृतानां लक्ष्मीः पुरोपवनजा वनपादपानाम्।७.४०

५. बद्धोर्मिनाकवनितापरिभुक्तमुक्तं सिन्धोर्बभार सलिलं शयनीयलक्ष्मीम्। ८.५७

६. परोच्छित्त्या लभ्यामभिलषति लक्ष्मीं हरिसुते। १०.६३

७. लक्ष्मीं समुत्सुकयितासि भृशं परेषामुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोबभूवे।

१२ वें सर्ग में इन्द्र के निर्देशानुसार अर्जुन शंकर की तपस्या में लीन होते हैं तथा अर्जुन की परीक्षा के लिये उनकी तपोभूमि की ओर प्रस्थान करते हैं। इस प्रसंग में भी कवि ने शंकर के लिये लक्ष्मीवान शब्द का प्रयोग कर प्रस्थान की चर्चा की है। मानो वे लक्ष्मी लेकर अर्जुन को अर्पित करने के उद्देश्य से ही चले हों।[1]

त्रयोदश सर्ग में शंकर का दूत अर्जुन के समक्ष उपस्थित होकर अजुन को सलाह देता है कि तुम लक्ष्मी के विजेता शंकर की बुद्धि को अनुकूल बनाओ। कवि ने यहां भी अर्जुन के उपास्य शंकर को लक्ष्मी का विजेता बताकर मानो अर्जुन की सफलता का ही सन्देश दिया है।[2]

१४ वें सर्ग में किरात वेषधारी शंकर के गणों के साथ अर्जुन का युद्ध होता है। अर्जुन की वीरता से भयभीत हो विजय लक्ष्मी शंकर के गणों के प्रति पक्षपात का त्याग कर देती है। शंकर की सेना के पराजित होते ही अर्जुन लक्ष्मीवान हो उठते हैं, जो समस्त तपस्वियों के लिये आनन्दप्रद सिद्ध होता है।[3]

१६ वें सर्ग में अर्जुन की परीक्षा के लिये शंकर स्वयं युद्धार्थ उपस्थित होते हैं। इस युद्ध में अर्जुन के समस्त शस्त्रास्त्र खंडित हो जाते हैं, तथापि बाहुबल से अर्जित विजयलक्ष्मी की आशा नहीं छोड़ते।

१७ वें सर्ग में भी भारवि के अनुसार अर्जुन कीर्ति और लक्ष्मी (श्री) की अभिलाषा नहीं छोड़ते और अन्ततोगत्वा वे उसे प्राप्त करके ही युधिष्ठिर के पास पहुँचते हैं।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम सर्ग में प्रारम्भ श्री सम्बन्धी व्यवहार निरीक्षण अन्ततः अर्जुन को या सहृदय पाठक को लक्ष्मीवान बनाकर ही छोड़ता है। यह है वस्तुतः भारवि की श्रियोपासना।[5]

---

१. लक्ष्मीवाननुपदमस्य सम्प्रतस्थे···॥ १२.५४

२. स्थेयाञ्जयन्हरितुरंगमकेतुलक्ष्मीम्। १३.७१

३. कथमपि जयलक्ष्मीर्भीतभीता विहातुं विषमनयनसेनापक्षपातं विषेहे॥ १४.६५

सम्पश्यतामिति शिवेन वितायमानं लक्ष्मीवतः क्षितिपतेस्तनयस्य वीर्यम्।
अङ्गान्यभिन्नमपि तत्त्वविदां मुनीनां रोमाञ्चमञ्चिततरंबिभरांबभुवुः॥ १५.५३

४. अभिलषत उपायं विक्रमं कीर्तिलक्ष्म्योः। १७.६४

५. निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो,
धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम। १८.४८

परिशिष्ट

किरातार्जुनीय में प्रयुक्त विभिन्न छन्दों की तालिका

सर्गः / छंदों के नाम	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	योग
उपेन्द्रवज्रा	४५		४								१				१	१५	९		७५
मालिनी	१		१	१	१	१			१					१		२	१	३	१३
ललिता	५६														२			१	५९
उपजाति		१	५५													४४	४३	२	१४५
पुष्पिताग्रा		१		१	४					६२									६८
वसन्ततिलका		१			१२	१	१	३	४		१		१		१	१		१	२७
वंशस्थ।				३६				५४						६३	२			३	१५८
द्रुतविलम्बित					२२									१				१२	३५
प्रमिताक्षरा					३	४५												३	५१
प्रभा					१														१
रथोद्धता					१								३६					१	३८
जलधरमाला					१														१
प्रहर्षिणी					३		३९					१					३	२	४८
जलोद्धतगति					१														१
शालिनी					१													२	३
वंशपत्रपतित					१														१
स्वागता									७३									२८	१०१
शिखरिणी										१								३	४
अनुष्टुप											७९				४७				१२६
उद्गता												५३							५३
औपच्छन्दसिक													३४					१	३५
इन्द्रवज्रा															१	२	८	२	१३
अपरवक्त्र																		१	१
प्रमुदितवदना																		४	४
मत्तमयूर																		१	१
२५ प्रकार के छन्दप्रयुक्तहुए	३	३	३	३	१२	३	२	२	३	२	३	२	३	३	५	५	५		

भारवि के महाकाव्य में प्रयुक्त विभिन्न छन्दों के लक्षण

(१) उपेन्द्रवज्रा—इस छन्द का प्रयोग 'किरातार्जुनीयम्' में कुल ७५ बार हुआ है। इसका विशद विवरण 'छन्दों की तालिका' में द्रष्टव्य है। इसका लक्षण है—उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

(२) मालिनी—इस छन्द का प्रयोग १३ बार हुआ है। इसका लक्षण है—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः

(३) ललिता—इस छन्द का प्रयोग ५९ बार हुआ है। इसका लक्षण है—

धीरैरमाणि ललिता तभौ जरौ ।

(४) उपजाति—इस छन्द का प्रयोग १४५ बार हुआ है। संख्या की दृष्टि से इसको द्वितीय स्थान प्राप्त है। सर्वाधिक प्रयोग वंशस्थ छन्द का हुआ है। इसका लक्षण है—अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।

(५) पुष्पिताग्रा—इस छन्द का प्रयोग ६८ बार हुआ है। इसका लक्षण है—अयुजि नयुगरेफतो यकारो,

युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।

(६) वसन्ततिलका—यह २७ बार प्रयुक्त हुआ है। इसका लक्षण है—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

(७) वंशस्थ—भारवि का यह सर्वाधिक प्रिय छन्द था। उन्होंने अपने महाकाव्य के अधिकांश भाग को इसी छन्द के परिधान में परिवेष्टित किया है। किरातार्जुनीय के १०३० श्लोकों में से १५८ श्लोक इसी वंशस्थ के वितान में उपनिबद्ध हैं। इसका लक्षण है—

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

(८) द्रुतविलम्बित—यह छन्द ३५ बार प्रयुक्त हुआ है। इसका लक्षण है—

द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।

(९) प्रमिताक्षरा—यह ५१ बार प्रयुक्त हुआ है। इसका लक्षण है—

प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता।

(१०) प्रभा—इस छन्द का प्रयोग केवल एक बार ही हुआ है और वह भी पांचवें सर्ग में। इसका लक्षण है—

स्वरशरविरतिर्ननौ रौ प्रभा।

(११) रथोद्धता—इस छन्द का प्रयोग ३८ बार हुआ है। इसका लक्षण है—रान्नराविह रथोद्धता लगौ।

(१२) जलधरमाला—प्रभा छन्द की भांति इस छन्द का प्रयोग भी केवल एक बार ही पांचवें सर्ग में हुआ है। इसका लक्षण है—

अब्ध्यष्टाभिर्जलधरमालाम्भौ स्मौ।

(१३) प्रहर्षिणी—इस छन्द का प्रयोग ४८ बार हुआ है। इसका लक्षण है—म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्।

(१४) जलोद्धतगति—इस छन्द का प्रयोग भी केवल एक ही बार हुआ है और वह भी पांचवें सर्ग में। इसका लक्षण है—रसैर्जसजसा जलोद्धतगतिः।

(१५) इस छन्द का प्रयोग तीन बार हुआ है। इसका लक्षण है—

शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः।

(१६) वंशपत्रपतित—इस छन्द का प्रयोग भी केवल एक ही बार हुआ है और वह भी पांचवें सर्ग में। इस प्रकार हम देखते हैं कि पांचवा सर्ग भारवि के लिए कई अप्रचलित छन्दों जैसे, प्रभा, जलधरमाला, जलोद्धतगति, तथा वंशपत्रपतित इत्यादि के प्रयोग का स्थल रहा है जिनका कि उन्होंने फल की सन्दिग्धता के कारण एक ही बार प्रयोग किया है। वंशपत्रपतित का लक्षण है—

दिङ्मुनि वंशपत्रपतितं भरनभनलगैः।

(१७) स्वागता—इस छन्द का प्रयोग १०१ बार हुआ है। इसका लक्षण है—स्वागतेति रनभाद्गुरुयुग्मम्।

(१८) शिखरिणी—इस छन्द का प्रयोग ४ बार हुआ है। इसका लक्षण है—रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी।

(१९) अनुष्टुप्—इस छन्द का प्रयोग १२६ बार हुआ है। इसका लक्षण है—वक्रं नाद्यान्नसौ स्यातामब्धेर्योऽनुष्टुभिख्यातम्।

(२०) उद्गता :—इस छन्द का प्रयोग ५३ बार हुआ। इसका लक्षण है—

सजमादिमे सलघुकौ च नसजगुरुकेष्वथोद्गता।

(२१) औपच्छन्दसिक—इस छन्द का प्रयोग ३५ बार हुआ है। इसका लक्षण है—पर्यन्ते यौ तथैव शेषमौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्।

(२२) इन्द्रवज्रा—इस छन्द का प्रयोग १३ बार हुआ है। इसका लक्षण है—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।

(२३) अपरवक्त्र—इस छन्द का प्रयोग केवल एक बार अन्तिम (अठारहवें) सर्ग में हुआ है। इसका लक्षण है—

अयुजि ननरला गुरुः समेन्जमपरवक्त्रमिदं ततो जरौ।

(२४) प्रमुदितवदना—इस छन्द का प्रयोग ४ बार हुआ है। इसका लक्षण है—प्रमुदितवदना भवेन्नौ ररौ।

(२५) मत्तमयूर—इस छन्द का प्रयोग केवल अन्तिम (१८ वें) सर्ग में एक बार हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां तक भारवि ने पांचवें सर्ग को अप्रचलित छन्दों का परीक्षणस्थल बनाया वहां अन्तिम अर्थात् अठारहवें सर्ग में भी उन्होंने कुछ अप्रसिद्ध छन्दों जैसे, मत्तमयूर तथा अपरवक्त्र का प्रयोग किया। मत्तमयूर का लक्षण—वेदै रन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम्।

मुद्राराक्षस नाटक में अर्थान्तरन्यासों की तालिका

अंक संख्या	प्रत्येक अंक में कुल श्लोक-संख्या	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार से युक्त श्लोकों का पृथक् विवरण
१	२७		
२	२३	२	७, १८
३	३३		
४	२२		
५	२४		
६	२१	१	८
७	१९		
योग	१६९	३	

वेणीसंहार नाटक में अर्थान्तरन्यासों की तालिका

अंक संख्या	प्रत्येक अंक में कुल श्लोकों की संख्या	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यास से युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	२७		
२	२८		
३	४९		
४	६५		
५	४२		
६	४७	१	४
योग	२०८	१	

कर्पूरमंजरी में अर्थान्तरन्यासों की तालिका

यवनिका संख्या	प्रत्येक यवनिका में कुल श्लोकों का योग	प्रत्येक यवनिका में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक यवनिका में अर्थान्तरन्यास से युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	३६		
२	५०		
३	३४	१	६
४	२३		
योग	१४३	१	

भट्टिकाव्य में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

सर्ग संख्या	प्रत्येक सर्ग में सम्पूर्ण श्लोकों का योग	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यास से युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	२७		
२	५५	१	६
३	५६		
४	४५		
५	९६		
६	१४६	१	२४
७	१०८		
८	१३१		
९	१३७		
१०	७५	३	३७, ३८, ६७
११	४७		
१२	८७		
१३	५०		
१४	११३		
१५	१२३		
१६	४२		
१७	११२		
१८	४२		
१९	३०		
२०	३७		
२१	२३		
२२	३५		
योग	१६१७	५	

मेघदूत में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

मेघ संख्या	प्रत्येक मेघ में कुल श्लोकों की संख्या	प्रत्येक मेघ में अर्थान्तरन्यास की संख्या	
पूर्व मेघ	६३	११	३, ५, ६, ८, १०, २०, २८, ३८, ४१, ५३, ५४
उत्तर मेघ	५४	५	१७, २४, ३०, ३७, ५१
योग	११७	१६	

अभिज्ञानशाकुन्तल में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

अंक संख्या	प्रत्येक अंक में कुल श्लोकों की संख्या	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यास अलंकार से युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	३०	३	१७, १९, २५
२	१८	३	१, २, १६
३	२४		
४	२२		
५	३१	४	१८, २२, २४, २६
६	३२	३	
७	३५	१	१३
योग	१९२	१४	

विक्रमोर्वशीय में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

अंक संख्या	प्रत्येक अंक में सम्पूर्ण श्लोकों की संख्या	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यास अलंकार से युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	१८		
२	२३		
३	२२	२	१, २१
४	७३	१	२६
५	२४		
योग	१६०	३	

मालविकाग्निमित्र में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

अंक संख्या	प्रत्येक अंक में कुल श्लोकों की संख्या	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यासों से युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	२१		
२	१४		
३	२३		
४	१७		
५	२०	१	१९
योग	९५	१	

स्वप्नवासवदत्तम् में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

अंक संख्या	प्रत्येक अंक में कुल श्लोकों की संख्या	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यास अलंकार से युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	१६	२	४, १५
२			
३			
४	९	१	८
५	१३		
६	१९	२	७, १४
योग	५७	५	

प्रतिज्ञायौगन्धरायण में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

अंक संख्या	प्रत्येक अंक में कुल श्लोकों की संख्या	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यास के युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	१८	३	४, ११, १८
२	१४		
३	९		
४	२५		
योग	६६	३	

उत्तररामचरित में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

अंक संख्या	प्रत्येक अंक में कुल श्लोकों का योग	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक अंक में अर्थान्तरन्यास अलंकार से युक्त श्लोकों की अंकगत संख्या
१	५१		
२	३०	३	१, ११, १९
३	४८	१	१०
४	२९	३	११, १२, १८
५	३५	२	१७, १९
६	४२	४	११, १२, १४, ३०
७	२१	१	४
योग	२५६	१४	

बुद्धचरितम् में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

सर्ग संख्या	प्रत्येक सर्ग में कुल श्लोकों का योग	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यास से युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	८९		
२	५६		
३	६५		
४	१०३		
५	८७		
६	६८	२	१० २२
७	५८	२	१८ ४८
८	८७	१	५४
९	८२	४	१७ ७४ ७५ ७६
१०	४१	३	२६ ३० ३८
११	७३	१	६८
१२	१२१		
१३	७३	१	१२
१४	१०८ (३१ प्राप्त) (७७ अप्राप्त) १०८		चौदहवें सर्ग के ७७ तथा १५, १६, १७ और १८ सर्ग का मूल संस्कृत पाठ अप्राप्य। केवल तिब्बती भाषा में अनुवाद मिलता है।
१५			
१६			
१७			
१८			
योग		१४	

नोट—

अश्वघोष रचित बुद्धचरित का प्रधान उद्देश्य भगवान बुद्ध के जीवन-चरित का वर्णन करना है। इस महाकाव्य की रचना १० सर्गों में की गई थी किन्तु आज के इसके केवल १४ सर्ग ही उपलब्ध होते हैं। अवशिष्ट का तिब्बती तथा चीनी अनुवाद उपलब्ध है। भगवान बुद्ध का जीवन सत्य की खोज की कहानी है अतः महाकाव्य में यत्र-तत्र विश्वविषयक चरम सत्य का अर्थान्तर-न्यास के रूप में अभिव्यक्त होना स्वाभाविक ही था। महाकवि ने इसको वैदर्भी रीति का आश्रय लेकर सरल और सुबोध ढंग से प्रतिपादित किया है।

सौन्दरनन्द में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

सर्ग संख्या	प्रत्येक सर्ग में कुल श्लोकों का योग	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यास से युक्त श्लोकों की सर्गगत संख्या
१	६२		
२	६५		
३	४२		
४	४६		
५	५३	१	२३
६	४९		
७	५२		
८	६२	१	४
९	५१		
१०	६४	१	४६
११	६२		
१२	४३		
१३	५६		
१४	५२		
१५	६९		
१६	९८		
१७	७३		
१८	६४	३	३०, ३१, ३२
योग	१०६३	६	

नोट—

इस महाकाव्य का उद्देश्य जनता के समक्ष बौद्धधर्म के सिद्धान्तों को रोचक व मनोहारी शैली में रखना है। अपने इस मन्तव्य की पूर्ति महाकवि ने गौतम बुद्ध के अनुज नन्द की कथा का संबल लेकर किया है। कथानक और उद्दिष्ट की दृष्टि से प्रस्तुत महाकाव्य में अर्थान्तरन्यास अलंकार के बाहुल्य की संभावना थी किन्तु अठारह सर्गों में विभक्त १०६३ श्लोकों के काव्य में केवल छै अर्थान्तरन्यासयुक्त श्लोकों का पाया जाना महाकवि में बहुत बड़ी कमी को ही इंगित करता है।

रघुवंश में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

सर्ग संख्या	प्रत्येक सर्ग में कुल श्लोकों का योग	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यास से युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	९५	३	१०, १८, ७९
२	७५	७	४, २२, ३४, ४०, ५६, ५७, ५८
३	७०	४	२९, ४६, ६२, ७०
४	८८	२	६४, ८६
५	७६	२	१७, ५४
६	८६	३	३०, ६९, ७९
७	७१	३	१५, ५५, ७१
८	९५	१०	२६, ३८, ४०, ४३, ४६, ८३ ८५, ८६, ८७, ९०
९	८२	२	७४, ८०
१०	८६	१	६
११	९३	६	१, २, ५०, ७५, ८०, ८९
१२	१०४	२	३३, ६९
१३	७९		
१४	८७	४	३५, ४०, ४१, ४६
१५	१०३	३	३, ४, १७
१६	८८	१	८०
१७	८१	२	५२, ६०
१८	५३	२	१३, १८
१९	५७	१	४९
योग	१५४९	५८	

नोट—

रघुवंश महाकाव्य संस्कृत साहित्य का हीरक है। कालिदास को तो इससे इतनी अधिक कीर्ति मिली कि उनकी संज्ञा ही 'रघुंकार' हो गई—'क इह रघुकारे न रमते'। इसके १९ सर्गों में सूर्यवंश के राजाओं का यशोगान किया गया है। इसी प्रसंग में महाकवि की लेखनी से यत्र-तत्र अनेकों सूक्तियाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार के रूप में प्रस्फुटित हुई हैं। कालिदास के अर्थान्तरन्यास प्रभावशाली, व्यापक तथा काल व स्थान की सीमा से परे हैं। यही कारण है कि हजारों वर्ष पूर्व रचित होने पर आज भी वे उसी प्रकार रोचक, मनोहारी तथा अनुग्राह्य हैं।

कुमारसंभव में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

सर्ग संख्या	प्रत्येक सर्ग में कुल श्लोकों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यास अलंकार से युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	६०	५	३, १२, ५१, ५२, ५९
२	६४	२	४०, ५५
३	७६	४	१, २८, ४०, ६३
४	४६	४	५, २६, २८, ४४
५	८६	११	१, २४, ५, १६, ३१, ३३, ४५, ६४, ७५, ८२
६	९५	१०	१२, १३, २०, २९, ३१, ३२, ७९, ८५, ८६, ९५
७	९५	१	२२
योग	५२२	३७	

नोट—

कुमारसम्भव महाकाव्य सत्रह सर्गों में विभक्त है। किन्तु विद्वानों का मत है कि भाषा, कल्पना और अर्थ सौन्दर्य की दृष्टि से प्रारम्भ आठ सर्ग ही कालिदास के रचे हुए हैं। अवशिष्ट नौ सर्ग बाद की रचना हैं। कुछ विद्वानों ने तो केवल प्रारम्भ के सात सर्गों को ही कालिदास की रचना माना है। अतः यहां पर हमने प्रारम्भ के सात सर्गों में ही अर्थान्तरन्यास का संकलन किया है क्योंकि इनको कालिदास की रचना सभी निर्विवाद रूप से मानते हैं।

शिशुपालवध में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

सर्ग संख्या	प्रत्येक सर्ग में कुल श्लोकों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यास से युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	७५	५	१४, १७, ६७, ७२, ७३
२	११८	१०	१२, १३, ३५, ३८, ४०, ५१ ६५, ८०, ८५, १००
३	८२	१	३१
४	६८		
५	६९	८	६, १४, १९, ३१, ४१, ४२, ४४, ४७
६	७९	२	४३, ६३
७	७५	५	२७, ४३, ५०, ५२, ६१
८	७१	१२	७, १०, १८, २०, २२, २८, ४५, ५५, ५७, ५८, ६०, ६९
९	८७	११	५, ६, १२, १९, २३, २९, ४३, ५१, ५७, ६२, ६९
१०	९१	४	५, १८, २८, ७९
११	६७	६	२५, ३३, ३५, ५७, ५९, ६४
१२	७७	२	३२, ५२
१३	६९	३	६, १७, ६८
१४	८८	१	१३
१५	९६	४	१, ४०, ४१, ८९
१६	८५	३	४०, ४४, ४६
१७	६२	२	५०, ५९
१८	८०	३	२३, ६४, ६६
१९	२०	१	११९
२०	१७९	१	७४
योग	१६४५	८४	

नैषधीयचरित में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

सर्ग संख्या	प्रत्येक सर्ग में कुल श्लोकों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यास से युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	१४५	४	३९, ५०, ५४, १०२
२	११०	३	४८, ५३, ५६
३	१३६	६	१७, ५३, ७०, ९१, ९३, १३४
४	१२३	५	१६, ४६, ५७, ११०, ११८
५	१३८	९	३, ६, ९, ३६, ३८, ५५, ९४, १०३, १०९
६	११३	१	९३
७	११०		
८	१०९	७	२, १७, ४६, ५१, ५४, ७४, ७८
९	१६०	१०	५, ८, १३, ३९, ४२, ४५, ४६, ५६, ८३, ९३
१०	१३८	८	१६, १९, २६, ४३, ४४, ४५, ७१, १०१
११	१३०	३	३४, ५१, ५५
१२	११३	२	२२, ४१
१३	५६	१	३७
१४	१०१	३	३, ५, ८१
१५	९३		
१६	१३१		
१७	२२२		
१८	१५४	१	२
१९	६७	१	२
२०	१६२		
२१	१६२		
२२	१५३		
योग	२८२७	६७	

किरातार्जुनीय में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यासों की तालिका

सर्ग संख्या	प्रत्येक सर्ग में कुल श्लोकों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यासों की संख्या	प्रत्येक सर्ग में अर्थान्तरन्यास से युक्त श्लोकों का विशद विवरण
१	४६	१२	२, ४, ५, ८, २३, २५, ३०, ३७, ४१, ४२, ४३, ४५
२	४९	९	५, १५, १८, २०, २१, ३०, ३६, ४७, ५२
३	६०	६	१२, १३, १४, १७, ३१, ५३
४	३८	४	४, २०, २३, २५
५	५२	३	१६, ४९, ५१
६	४७	१०	७, १९, २४, २८, ३७, ३८, ४३, ४४, ४५, ४६
७	४०	४	५, १३, १५, २८
८	५७	५	४, ७, ३७, ४६, ५४
९	७८	११	१३, १६, ३०, ३३, ३५, ३७, ४९, ५८, ६४, ६६, ७०
१०	६३	१३	६, ९, १७, २३, २५, २९, ३५, ३७, ४०, ४४, ५८, ५९, ६२
११	८१	८	८, ११, २४, ३०, ४७, ५३, ५५, ७६
१२	५४	६	३, ४, ६, १०, २९, ४६
१३	७१	८	६, ७, १२, ३२, ४०, ६३, ६४, ६६
१४	६५	१०	१, ९, ११, १४, १९, २१, २२, ४३, ४४, ४५
१५	५३	२	२, ६
१६	६४	३	१९, २४, ६१
१७	६४	३	२३, ४०, ४२
१८	४८	२	३, १४
योग	१०३०	११९	

किरातार्जुनीय में प्रयुक्त विविध अलंकारों की तालिका

अलंकारों के नाम	कितनी बार प्रयुक्त हुए हैं	किन-किन सर्गों में तथा किन-किन श्लोकों में पाए जाते हैं (विशद विवरण)।
अतिशयोक्ति	२०	द्वितीय सर्ग २४, ३१, तृ० स० २१, पं० स० २, १९, ४३, ष० स० ४२, स० स० ११, १२, १६, अ० स० २०, ४६, न० स० ४, द० स० १, २४, ३४, द्वादश स० ७, त्रयो०स० १६, २१, २३
अनुप्रास	१	अष्टम सर्ग २
अनुमान	१	त्रयोदश सर्ग ३७
अपह्नुति	१	द्वादश सर्ग १५
अर्थत्रयवाचिन्	१	पंचम सर्ग ४५
अर्थापत्ति	१	सप्तम सर्ग २७
अर्धभ्रामक	१	पंचदश सर्ग २७
उत्प्रेक्षा	१०३	द्वि० स० ५४, तृ० स० १, ३, ४३, ४७, ४८, ४९, च० स० ७, ११, १३, २६, २७, ३०, ३१, पं० स० १, ३, ७, ८, १५, १७, ३०, ३२, ३४, ३५, ४८, ष० स० १०, ११, १२, १७, २५, २६, २७, ३३, ४१, स०स० ६, १४, २३, २१, अ० स० १०, ११, २१, २६, २७, २८, ३२, ३३, ३८, ५०, ५५, न० स० १, ३, ५, ११, १२, १४, २१, २३, २६, ३२, ५३, ५५, ६९, ७२, ७४, ७५, ७६, द० स० ३, ११, २१, ३२, ३३, ४३, द्वादश स० १३, १४, २४, ४५, त्रयोदश स० ५, ८, २२, ३३, ३४, चतुर्दश स० २९, ३०, ३२, ३३, ३४, ४८, ५०, ५३, ५४; पंचदश स० ९, षोडश स० ३, ३५, ३८, ४५, ४६, ६२, सप्तदश स० ८, ३७, ४७, अष्टादश स० १८, १९।
उदात्त	२	प्रथम स० १६, त्रयोदश स० ५५।
उपमा	५९	प्रथम स० २१, द्वि० स० ५०, तृ० स० ३२, ३६, ४३, ४६, च० स० १, ६, १५, १७, १९, २८; ३६, पं० स० १८, २६, ४१, ४६, षष्ठ स० २, २३, ४०, ४७, न० स० ८, १०, १२, १४, १७, १८, २७, २९, ३२, ६३, ६७, ७८, द० स० ८, २४, ३४, ४२, एका० स० ३३, ५५, ५९, ६४, द्वादश स० १७, २०, २२, त्रयोदश स० १४, १५, १७, २२, २५, २८, ५३, ६६, चतुर्दश स० ७, ३५, ४० ५२, षोडश स० ४६, ६०, सप्तदश सर्ग ४
ऊर्जस्वल	२	दशम सर्ग ५१, ५७

अलंकारों के नाम	कितनी बार प्रयुक्त हुए हैं	किन-किन सर्गों में तथा किन-किन श्लोकों में पाए जाते हैं (विशद विवरण)।
एकव्यंजन	१	पंचदश स० १४
एकावली	३	प्रथम स० १२, द्वि० स० ३२, दशम स० १३
कारणमाला	३	द्वि० स० १४, ४०, सप्तदश स० १७
काव्यलिंग	२५	प्रथम स० ७, द्वि० स० २९, ३९, ४०, ४४, तृ० स० ४२, प० स० २०, २३, २६, ४०, ४४, षष्ठ स० १८, स० स० २६, अ० स० ३, १२, १८, ४४, न० स० ५५, ५७, ६२, ६३, द० स० १५, एका० स० १, ७८, चतुर्दश स० २९
गोमूत्रिका बन्ध	१	पंचदश स० १२
तुल्ययोगिता	२	नवम स० ५१, एकादश स० ५४
द्वयक्षर	१	पंचदश स० ३८
दृष्टान्त	२	द्वि० स० ५१, पंचदश स० १५
निदर्शना	१४	द्वि० स० ५९, पंचम स० ३९, षष्ठ स० ४, सप्तम स० ३, ३७, ४०, ५७, नवम स० ९, दशम स० २७, एका० स० १९, षो० स० २१, ४१, ६२, सप्तदश स० ४६
परिकर	४	प्रथम सर्ग १९, प० स० ४०, स० स० ४, एकादश स० ४५
परिणाम	१	चतुर्थ स० २
परिवृत्ति	१	द्वि० स० १९
पर्याय	१	दशम स० ४९
पर्यायोक्ति	१	पंचम स० ३७
पूर्णोपमा	२	प्रथम स० ४६, तृ० स० ४३
प्रतिलोम	१	पंचदश स० २३
प्रतिलोमानुलोमपाद	१	पंचदश स० २०
प्रेय	१	पंचम स० ५१
भाविक	२	प्रथम स० २९, ३३
भ्रान्तिमान	१०	पंचम स० २६, ३१, ४२, षष्ठ स० ८, स० स० २२, ३९, अ० स० ७, द० स० ४, ४२, अष्टा० स० २१
माला	१	अष्टादश स० ४६
मालोपमा	३	त्रयोदश स० २९, चतुर्दश स० ६३, सप्तदश स० ११
मीलन	२	अष्ट० स० ४६, ४८
यथासंख्य	२	अष्ट० स० ४२, पंचदश स० १६
यमक	७	प०स० १८, २०, २३, पंचद०स० १, ३, १६, ३१

अलंकारों के नाम	कितनी बार प्रयुक्त हुए हैं	किन-किन सर्गों में तथा किन-किन श्लोकों में पाए जाते हैं (विशद विवरण)।
रसवत्	१	दशम स० ५१
रूपक	१४	तृ० स० ४१, च० स० २४, प० स० २८, षष्ठ स० ४१, स० स० ५, ११, १५, न० स० ३, २७, ५७, ६२, द० स० ३२, चतुर्दश स० १२, पंचदश स० ३८
विभावना	३	पंचम स० २६, अ० स० ४०, न० स० २५
विरोध	१	दशम स० १४
विरोधाभास	५	नवम स० ६३, ६४, एकादश स० ३५, द्वादश स० १६, अष्टादश स० ४१
विशेषोक्ति	१	तृतीय स० ८
विषम	२	प्रथम स० १
व्यतिरेक	५	पंचम स० ४४, एकादश स० ६३, द्वादश स० १४, त्रयोदश स० ५२, ५३
श्लेष	८	अष्ट० स० २, दशम स० २४, ३४, एकादश स० ५९, त्रयोदश स० १४, १५, चतुर्दश स० ५२, सप्तदश स० २७
संशय	१	नवम स० ६९
संकर	३२	च० स० ३४, प० स० २६, षष्ठ स० २, ८, ४०, ४१, स० स० २३, २५, अष्ट० स० ६, ११, १५ १८, ४२, नवम स० ३, ५, १२, १४, २७, ३२, ५५, ५७, ६२, दशम स० २४, २५, ३४, ३६, द्वादश स० १४, त्रयो० स० २१, ५३, ६६, चतुर्दश स० २९, षोडश स० ३५
संसर्ग	१	अष्टम स० २
संसृष्टि	१६	द्वितीय स० ५०, तृ० स० ४६, च० स० १७, प० स० १८, २०, २३, स० स० १२, अ० स० १, ७, १०, ४६, नवम स० ६३, ६४, द० स० ३२, पंचदश स० १६, सप्तदश स० ४६
संदेह	१२	च० स० ५, प० स० १२, ३६, ष० स० १२, अ० स० १५, ३५, ३६, ५३, न० स० ७, १५, ५२, ५४
सम	१	द० स० २५
समपरिवृत्ति	१	स० स० ३५
समासोक्ति	९	प्रथम स० १८, तृ० स० ४४, ६०, प० स० २७, अ० स० ६, न० स० ५, ११, द० स० ३१, चतुर्दश स० ३
समाहित	१	द० स० ५१
समुच्चय	२	पंचदश स० १, षोडश स० ३५

अलंकारों के नाम	कितनी बार प्रयुक्त हुए हैं	किन-किन सर्गों में तथा किन-किन श्लोकों में पाए जाते हैं (विशद विवरण)
सर्वतोभद्र	१	पंचदश स० २५
सहोक्ति	३	प्रथम स० ३९, द० स० ३९, ४८
सामान्य	१	अष्टम स० ४२
स्मरण	३	च० स० ३८, प० स० १४, षष्ठ स० १३
स्वभावोक्ति	२१	च० स० १०, १३, १६, १७, १८, २९, षष्ठ स० १५, स० स० १२, १९, अ० स० १७, १८, २२, २६, ४५, ४९, द्वादश स० ४२, त्रयोदश स० १८, २२, ३०, ३१, चतुर्दश स० ३६

'किरातार्जुनीयम्' में प्रयुक्त विविध बन्धों के लक्षण उनके उदाहरण तथा चित्र

गोमूत्रिकाबन्ध का लक्षण—

वर्णानामेकरूपत्वं यद्येकान्तरमर्धयोः ।
गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं तद्विदो विदुः ॥

गोमुत्रिकाबन्ध का उदाहरण—

नासुरो यं न वा नागो धरसंस्थो न राक्षसः ।
नासुखो यं नवाभोगो धरणिस्थो हि राजसः ॥ १५।१२

गोमुत्रिकाबन्ध का चित्र—

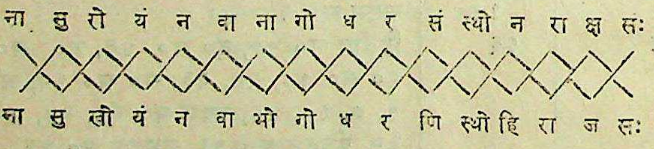

सर्वतोभद्र—दण्डी के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—

'तदिदं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः ।

सरस्वतीकंठाभरण में भी इसका लक्षण मिलता है—

'सर्वतोभ्रमणात् सर्वतोभद्राख्यश्चित्रबन्धः ॥'

किरातार्जुनीयम् में इसका उदाहरण है—

देवाकानिनि कावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा ।
काकारेभभरे काका निस्वभव्यव्यभस्वनि ॥ १५।२५

दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे

'एकव्यंजन' अलंकार का उदाहरण—

न नोननुन्नो नुन्नोनो
नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो
नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥ १५।१४

'द्विव्यंजन' अलंकार का उदाहरण—

चारचुञ्चुश्चिरारेची चञ्चच्चीररुचा रुचः ।
चचार रुचिरश्चारु चारैराचारचञ्चुरः ॥ १५।३८

'निरौष्ठ्य' का उदाहरण—अथाग्रे हसता साचिस्थितेन स्थिरकीर्तिना ।
सेनान्या ते जगदिरे किञ्चिदायस्तचेतसा ॥१५।७
इति शासति सेनान्यां गच्छतस्ताननेकधा ।
निषिध्य हसता किंचित्तस्थे तत्रान्धकारिणा ॥१५।२९

'प्रतिलोमानुलोमपादः' का उदाहरण—

वेत्रशाककुजे शैलेऽलेशैजेऽकुकशात्रवे ।
यात किं विदिशो जेतुं तुजेशो दिवि किंतया ॥ १५।१८

दो श्लोकों में 'प्रतिलोमानुलोम' का उदाहरण—

निशितासिरतोऽभीको न्येजतेऽमरणा रुचा ।
सारतो न विरोधी नः स्वाभासो भरवानुत ॥ १५।२२
तनुवारभसो भास्वानधीरोऽविनतोरसा ।
चारुणा रमते जन्ये कोऽभीतो रसिताशिनि ॥ १५।२३

अर्धभ्रमक—इसका लक्षण सरस्वतीकंठाभरण में इस प्रकार वर्णित है—

"आहुरर्द्धभ्रमं नाम श्लोकार्द्धभ्रमणं यदि ।"

किरातार्जुनीयम् में इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

ससत्त्वरतिदे नित्यं सदरामर्षनाशिनि ।
त्वराधिककसन्नादे रमकत्वमकर्षति ॥ १५।२७

स	स	त्व	र	ति	दे	नि	त्यं
स	द	रा	म	र्ष	ना	शि	नि
त्व	रा	धि	क	क	सं	ना	दे
र	म	क	त्व	म	क	र्ष	ति

दंडीकृत 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में भारवि के जीवन से सम्बन्धित उद्धरण

दंडीकृत 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में भारवि के जीवन से सम्बन्धित उद्धरण :

'देव परमनुगृहीतोस्मि क्षणमवधानादनुग्रहीततम......णावासः ततो हि निस्सृता सरस्वतीव ब्रह्मलोकादगस्त्यमूर्तिरिव गीतोद्गर्णग......स्वलस्य कृतनिवेशितमचलपुरं नाम गवप्रोदकपुष्पवासितकलकाननायसि......सम्भृतधृतिरधिवसति कुशिकवंशवर्द्धनी सर्वातिथिरप्रतिग्रहीत्री महत्यु......(ना) रायणस्वामिनो नाभीपद्म इव ब्रह्मैकधाम दामोदरस्वामिनामा तमेत (१)......सर्वांगमनोहरया सर्वज्ञया विदग्धया सर्वभाषाप्रवीणाया प्रमाणयुक्तया ललितपदविन्यास.........स्नेहमस्व यत। को हि नाम भगवतीं भवितव्यतामतिक्रम्य यथासमीहितेन साधयति यथा १। यतः कौशि......व पुण्यकर्मणि विष्णुवर्द्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात्। एकदा च मृगयां गच्छतामनुना नीतः......यात्राप्रसंगेन दिगन्तराणि भ्रमणशीलकीर्तेर्गर्गेयकुलध्वजस्य दुर्विनीतइति विपरीतनाम्नः.........वदनादिसौजन्यं दर्शयता वशीकृतस्तदभ्याशे वसत्यार्थेयमियं च व.................सौ विंशतिवर्षदेशीय'' इति क्षितितलानिहितमौलिः प्रणम्याचार......परम्परानुकृष्टमेनमात्मसादकरोत्। माहात्म्यादतिशयदर्शिताराधितपुरु......पूर्वकं प्र कटयितुस्तस्य पुत्रीकरणेन दर्शितातिप्रसादः तदनुरूपमनल्पपत्रपरि.........कृतगानानि कानिचित्तेन प्रेषितानि श्रुत्वा परं प्रीतः स्त्रीसहस्रकुलं च काचंनाभम......र्गणान स्तन्यमिदमतिबहुत्वादासाद्य प्रत्येकं स्नानपानयत्नगौरवं तव स्यात्। अतो अस्माभिरेकत्तेव संभृतमिति प्रदी.........सच तथा गृह्यमाण गन्धमादनप्रभृतिभिः श्रीवरकृतैः संस्कृतप्राकृतानां च.........(ग) म्भीरानुज्वलराजहंसोपग्रहप्रकाशतेजस्ते.........ध्वनि रंगनाजवचरणपद्मजल्या कनूपुरातभवनदीर्धिकाकल.........कृतिरमिमतदेवाराधनपरपुरन्ध्रिमंडलारब्धबहुविधोत्सवस्वनश्चपल्वद·······दध्वानः मध्यमस्तु तेषां मनोरथो मनोरथ इव चिरेणायेपन्नः कालिजिगोषो·········महागुणरत्नराशिभाजो महासत्वान्महो दधीनि मध्यमो लोकश्चतुरो दामोद (रो)······शुद्धवृत्तस्य वीरवृत्तशर्मणो वंशर्षेर्वासिष्ठस्येवारुन्धती सती नाम कामिनी गौ (री)·········दंडिनामानमविन्दत। पितुरस्य प्रेयसी सपत्नीपुत्र इति कृत्वाम·········न्तरे परचक्रपीडया पर्याकुलेषु द्रमि चो पाण्डये (पु)·········। राम पंक्तिषु भग्नासु समादिप्रपासु·········न्युवर्ग प्रहतप्रायपरिजनः प्रवृत्तवृत्तिक्षयो दुर्भीक्षक्षणिके·········किंतेषु गुरुकुलेष्वलभतचानवद्यां गरीयसीषु च ब्रह्मक्षत्त्रस ·····या विस्मापितदुर्जयन्य मान्थातृनाम्नः स्थपतेः प्रशस्तवासुशास्त्रार्थं सारसा··············स्तुविस्तारषण्णवति प्रासादविधिविशारदो यानासनशयनादिना।

अवन्तिसुन्दरीकथासार में भारवि के जीवन से संबंधित श्लोक

अस्त्यानन्दपुरं नाम प्रदेशे पश्चिमोत्तरे।
आर्यदेशशिखारत्नं तत्रासन् बहवो द्विजाः॥ १९॥
ततोऽभिनिःसृता काचित् कौशिकब्रह्मसन्ततिः।
ब्रह्मलोकादिवायान्ती तुण्यतीर्था सरस्वती॥ २०॥
नासिक्यभूमावौत्सुक्यान्मूलदेवनिवेशिताम्।
प्राप्याचलपुरं नाम पुरीमधिवसत्यसौ॥ २१॥
तस्यां नारायणस्वामिनाम्नो नारायणोदरात्।
दामोदर इति श्रीमानादिदेव इवाभवत्॥ २२॥
स मेधावी कविर्विद्वान् भारविः प्रभ (वं) वो गिराम्।
अनुरुध्याकरोन्मैत्री नरेन्द्रे विष्णुवर्धनीः नेः॥ २३॥
क्षुधाविष्टेन तद्विकमामिषं मृगयान्तरे।
अनिष्टशिष्टं हा! कष्टं तेनाभोज्यमभुज्यत॥ २४॥
अगच्छन्नन्तिकं पित्रोः सत्रपस्तीर्थयात्रया।
चरन् भेवर :?: मापेदे कस्यापि शुभजन्मनः॥ २५॥
स दुर्विनीतनामासीदनन्वर्थाभिधानवान्।
तस्यान्तिके वसत्येष तेनपियमुदीरिता॥ २६॥
इति श्रुत्वा महीपालस्तदालोकनलोलुपः।
अनेकश्रीमुखाकृष्टमकरोदमुमात्मसात्॥ २७॥
स्वविशेषैरुर्विगतैस्तमाचारैरतोषयत्।
अभूषयच्च भूपालभग्राम्यैः स सुभाषितैः॥ २८॥
नृपनिर्बन्धनिर्दिष्टे प्रकृष्टविभवे गृहे।
वहतः पैतृकीं वृत्तिं तस्यासीत् तनयत्रयम्॥ २९॥
मनोरथाह्वयस्तेषां मध्यमो वंशवर्धनः।
ततस्तनूजाश्चत्वारः स्रष्टुर्वेदा इवाभवन्॥
श्रीवीरदत्त इत्येषामुत्तमस्तत्त्ववेदिनाम्॥ ३०॥
यवीयानस्य च श्लाघ्या गौरी नामाभवत् प्रिया॥ ३१॥
ततः कथंचित् सा गौरी, द्विजाधिपशिखामणेः।
कुमारं दंडिनामान, व्यक्तशक्तिमजीजनत्॥ ३२॥

भारवि के महाकाव्य में अर्थान्तरन्यास से युक्त श्लोक

प्रथम सर्ग

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः ।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छति मृषा हितैषिणः ॥ २ ॥
क्रियासु युक्तैर्नृप ! चारचक्षुषो न वंचनीयाः प्रभवोनुजीविभिः ।
अतोर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥ ४ ॥
स किंसखा साधु न शास्ति योधिपं हितान्न यः संश्रृणुते स किंप्रभुः ।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसंपदः ॥ ५ ॥
तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः ।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसंगमाद् वरं विरोधोपि समं महात्मभिः ॥ ८ ॥
प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मंडलं भुवः ।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥ २३ ॥
तदाशु कर्त्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम् ।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः ॥ २५ ॥
व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृतांगान्निशिता इवैषवः ॥ ३० ॥
इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः ।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः ॥ ३७ ॥
द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः ।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोप्युत्सव एव मानिनाम् ॥ ४१ ॥
विहाय शान्तिं नृप ! धाम तत्पुनः प्रसीद संधेहि वधाय विद्विषाम् ।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥ ४२ ॥
पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम ।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त ! हता मनस्विता ॥ ४३ ॥
न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ॥ ४५ ॥

द्वितीय सर्ग

इयमिष्टगुणाय रोचतां रुचिरार्था भवतेपि भारती ।
ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ॥ ५ ॥
तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम् ।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ॥ १५ ॥
मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्त्तयते स्वयं हतैः ।

लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ।। १८ ।।
ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः ।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः ।। २० ।।
किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः ।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया ।। २१ ।।
सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ।। ३० ।।
अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः ।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते ।। ३६ ।।
उपजापसहान्विलङ्घयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धतः ।
सहते न जनोप्यधःक्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम् ।। ४७ ।।
मतिमान्विनयप्रमाथिनः समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विषः ।
सुजयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता घविनीतसम्पदः ।। ५२ ।।

तृतीय सर्ग

तथापि निघ्नं नृप ! तावकीनैः प्रह्वीकृतं मे हृदयं गुणौघैः ।
वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः ।। १२ ।।
सुता न यूयं किमु तस्य राज्ञः सुयोधनं वा न गुणैरतीताः ।
यस्त्यक्तवान्वः स वृथा बलाद्वा मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः ।। १३ ।।
लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः ।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः ।। १७ ।।
कृतानतिर्व्याहृतसान्त्ववादे जातस्पृहः पुण्यजनः स जिष्णौ ।
इयाय सख्याविव सम्प्रसादं विश्वासयत्याशु सतां हि योगः ।। ३१ ।।
मा गाश्चिरायैकचरः प्रमादं वसन्नसम्बधशिवेपि देशे ।
मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ।। ५३ ।।

चतुर्थ सर्ग

तुतोष पश्यन्कलमस्य सोधिकं सवारिजे वारिणि रामणीयकम् ।
सुदुर्लभे नार्हति कोभिनन्दितुं प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसंगमे ।। ४ ।।
ततः स संप्रेक्ष्य शरद्‌गुणश्रियं शरद्‌गुणालोकनलोलचक्षुषम् ।
उवाच यक्षस्तमचोदितो पि गां न ह्रींगितज्ञोवसरेवसीदति ।। २० ।।
पतन्ति नास्मिन्विशदाः पतत्रिणो धृतेन्द्रचापा न पयोदपंक्तयः ।
तथापि पुष्णाति नभःश्रियं परां न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ।। २३ ।।
विहाय वाञ्छामुदिते मदात्ययादरक्तकंठस्य रुते शिखण्डिनः ।
श्रुतिः श्रयत्युन्मदहंसनिःस्वनं गुणाः प्रियत्वेधिकृता न संस्तवः ।।२५।।

पंचम सर्ग

अनुचरेण धनाधिपतेरथो नगविलोकनविस्मितमानसः ।
स जगदे वचनं प्रियमादरान्मुखरतावसरे हि विराजते ।। १६ ।।

भव्यो भवन्नपि मुनेरिह शासनेन
क्षात्रे स्थितः पथि तपस्यहतप्रमादः ।
प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि
श्रेयांसि लब्धमसुखानि विनान्तरायैः ।। ४९ ।।

इत्युक्त्वा सपदि हितं प्रियं प्रियार्हे धाम स्वं गतवति राजराजभृत्ये ।
सोत्कंठं किमपि पृथासुतः प्रदध्यौ संधत्ते भृशमरतिं हि सद्वियोगः ।।५१।।

षष्ठ सर्ग

दधति क्षतीः परिणतद्विरदे मुदितालियोषिति मदस्रुतिभिः
अधिकां स रोधसि बबन्ध धृतिं महते रुजन्नपि गुणाय महान् ।।७।।
प्रणिधाय तत्र विधिनाथ धियं दधतः पुरातनमुनेर्मुनिताम् ।
श्रममादधावसुकरं न तपः किमिवावसादकरमात्मवताम् ।। १९ ।।
धृतहेतिरप्यधृतजिह्ममतिश्चरितैर्मुनीनधरयञ्छुचिभिः ।
रचयाञ्चकार विरजाः स मृगान् कमिवेशते रमयितुं न गुणाः ।।२४।।
महते फलाय तदवेक्ष्य शिवं विकसन्निमित्तकुसुमं स पुरः ।
न जगाम विस्मयवश वशिनां न निहन्ति धैर्यमनुभावगुणः ।।२८।।
विगणय्य कारणमनेकगुणं निजयाथवा कथितमल्पतया ।
असदप्यदः सहितुमर्हसि नः क्व वनेचराः क्व निपुणा यतयः ।। ३७ ।।
अधिगम्य गुह्यकगणादिति तन्मनसः प्रियं प्रियसुतस्य तपः ।
निजुगोप हर्षमुदितं मघवा नयवर्त्मगाः प्रभवतां हि धियः ।।३८।।
तदुपेत्य विघ्नयत तस्म तपः कृतिभिः कलासु सहिताः सचिवैः ।
हृतवीतरागमनसां ननु वः सुखसंगिनं प्रति सुखावजितिः ।।४३।।
अविमृष्यमेतदभिलष्यति स द्विषतां वधेन विषयाभिरतिम् ।
भववीतये न हि तथा स विधिः क्व शरासनं क्व च विमुक्तिपथः ।।४४।।
पृथुधाम्नि तत्र परिबोधि च मा भवतीभिरन्यमुनिवद्विकृतिः ।
स्वयशांसि विक्रमवतामवतां न वधूष्वघानि विमृषन्ति धियः ।।४५।।
आशंसितापचितिचारु पुरः सुराणामादेशमित्यभिमुखं समवाप्य भर्तुः ।
लेभे परां द्युतिममर्त्यवधूसमूहः सम्भावना ह्यधिकृतस्य तनोति तेजः ।।४६।।

सप्तम सर्ग

कान्तानां कृतपुलकः स्तनाङ्गरागे वक्त्रेषु च्युततिलकेषु मौक्तिकाभः ।

सम्पेदे श्रमसलिलोद्‌गमो विभूषां रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति ॥५॥
तप्तानामुपदधिरे विषाणभिन्नाः प्रह्लादं सुरकरिणां घनाः क्षरन्तः ।
युक्तानां खलु महतां परोपकारे कल्याणी भवति रुजत्स्वपि प्रवृत्तिः ॥१३॥
प्रत्यार्द्रीकृततिलकास्तुषारपातैः प्रह्लादं शमितपरिश्रमा दिशन्तः ।
कान्तानां बहुमतिमाययुः पयोदा नाल्पीयान्बहु सुकृतं हिनस्ति दोषः॥१५॥
समोदाः कुसुमतरुश्रियो विविक्ताः सम्पत्तिः किसलयशालिनीलतानाम् ।
साफल्यं ययुरमरांगनोपभुक्ताः सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम् ॥२८॥

अष्टम सर्ग

घनानि कामं कुसुमानि बिभ्रतः करप्रचेयान्यपहाय शाखिनः ।
पुरो भिसस्रे सुरसुन्दरीजनैर्यथोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिनः ॥ ४ ॥
करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा मानिनि मा परिश्रमम् ।
उपेयुषी कल्पलताभिशंकया कथं न्वितस्त्रस्यति षट्पदावलिः ॥७॥
प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसंनिधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥३७॥
भयादिवाश्लिष्य झषाहतेम्भसि प्रियं मुदानन्दयति स्म मानिनी ।
अकृत्रिमप्रेमरसाहितैर्मनो हरन्ति रामाः कृतकैरपीहितैः ॥४६॥
प्रियेण सिक्ता चरमं विपक्षतश्चुकोप काचिन्न तुतोष सान्त्वनैः ।
जनस्य रूढप्रणयस्य चेतसः किमप्यमर्षोनुनये भृशायते ॥५४॥

नवम सर्ग

इच्छतां सह वधूभिरभेदं यामिनीविरहिणां विहगानाम् ।
आपुरेव मिथुनानि वियोगं लंघ्यते न खलु कालनियोगः ॥१३॥
रात्रिरागमलिनानि विकासं पंकजानि रहयन्ति विहाय ।
स्पष्टतारकमियाय नभःश्रीर्वस्तुमिच्छति निरापदि सर्वः ॥ १६ ॥
आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन ।
सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम् ॥ ३० ॥
ओजसापि खलु नूनमनूनं नासहायमुपयाति जयश्रीः ।
यद्विभुः शशिमसूखसखः सन्नाददे विजयि चापमनंगः ॥ ३३ ॥
न स्रजो रुरुचिरे रमणीभ्यश्चन्दनानि विरहे मदिरा वा ।
साधनेषु हि रतेरुपधत्ते रम्यतां प्रियसमागम एव ॥ ३५ ॥
आद्दता नखपदैः परिरम्भाश्चुम्बितानि घनदन्तनिपातैः ।
सौकुमार्यगुणसंभृतकीर्तिर्वाम एव सुरतेष्वपि कामः ॥ ४९ ॥
प्राप्यते गुणवतापि गुणानां व्यक्तमाश्रयवशेन विशेषः ।

तत्तथा हि दयितानननदत्तं व्यानशे मधु रसातिशयेन ।। ५८ ।।
बद्धकोपविकृतीरपि रामाश्चारुताभिमततामुपनिन्ये ।
वश्यतां मधुमदो दयितानामात्मवर्गहितमिच्छति सर्वः ।। ६४ ।।
योषिदुद्धतमनोभवरागा मानवत्यपि ययौ दयितांकम् ।
कारयत्यनिभृता गुणदोषे वारुणी खलु रहस्यविभेदम् ।। ६८ ।।
मा गमन्भदविमूढधिया नः प्रोज्झ्य रन्तुमिति शंकितनाथाः ।
योषितो न मदिरा भृशमीषुः प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि ।। ७० ।।

दशम सर्ग

नृपतिमुनिपरिग्रहेण सा भूः सुरसचिवाप्सरसां जहार तेजः ।
उपहितपरमप्रभावधाम्नां न हि जयिनां तपसामवंध्यमस्ति ।। ६ ।।
मृदितकिसलयः सुरागंनानां ससलिलवल्कलभारभुग्नशाखः ।
बहुमतिमधिकां ययावशोकः परिजनतापि गुणाय सद्गुणानाम् ।।९।।
अथ कृतकविलोभनं विधित्सौ युवतिजने हरिसूनुदर्शनेन ।
प्रसभमवततार चित्तजन्मा हरति मनो मधुरा हि यौवनश्रीः ।।१७।।
अभिभवति मनः कदम्बवायौ मदमधुरे च शिखण्डिनां निनादे ।
जन इव न धृतेश्चचाल जिष्णुर्न हि महतां सुकरः समाधिभंगः ।।२३।।
निचयिनि लवलीलताविकासे जनयति लोध्रसमीरणे च हर्षम् ।
विकृतिमुपययौ न पाण्डुसूनुश्चलति नयान्न जिगीषतां हि चेतः ।।२९।।
प्रभवति न तदा परो विजेतुं भवति जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा ।
अवजितभुवनस्तथा हि लेभे सिततुरगे विजयं न पुष्पमासः ।।३५।।
बलवदपि बलं मिथोविरोधि प्रभवति नैव विपक्षनिर्जयाय ।
भुवनपरिभवो न यत्तदानीं तमृतुगणः क्षणमुन्मनीचकार ।। ३७ ।।
मुनिमभिमुखतां निनीषवो याः समुपययुः कमनीयतागुणेन ।
मदनमुपदधे स एव तासां दुरधिगमा हि गतिः प्रयोजनानाम् ।।४०।।
नृपसुतमभितः समन्मथायाः परिजनगात्रतिरोहितांगयष्टेः ।
स्फुटमभिलषितं बभूव वध्वा वदति हि संवृतिरेव कामितानि ।।४४।।
करुणमभिहितं त्रपा निरस्ता तदभिमुखं च विमुक्तमश्रु ताभिः ।
प्रकुपितमभिसारणेऽनुनेतुं प्रियमियती ह्यबलाजनस्य भूमिः ।।५८।।
असकलनयनेक्षितानि लज्जा गतमलसं परिपाण्डुता विषादः ।
इति विविधमियाय तासु भूषां प्रभवति मण्डयितुं वधूरनंगः ।।५९।।
रुचिकरमपि नार्थवद्बभूव स्तिमितसमाधिशुचौ पृथातनूजे ।
ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः ।।६२।।

एकादश सर्ग

अभितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे ।
अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः ॥ ८ ॥
श्रेयसीं तव संप्राप्ता गुणसंपदमाकृतिः ।
सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम् ॥ ११ ॥
नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते ।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ॥ २४ ॥
जन्मिनोऽस्य स्थितिं विद्वांल्लक्ष्मीमिव चलाचलाम् ।
भवान्मा स्म वधोन्न्याय्यं न्यायाधारा हि साधवः ॥ ३० ॥
दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा राज्यमात्मा वयं वधूः ।
नीतानि पणतां नूनमीदृशी भवितव्यता ॥ ४७ ॥
सोढवान्नो दशामन्त्यां ज्यायानेव गुणप्रियः ।
सुलभो हि द्विषां भंगो दुर्लभा सत्स्ववाच्यता ॥ ५३ ॥
धार्तराष्ट्रैः सह प्रीतिर्वैरमस्मास्वसूयत ।
असन्मैत्रो हि दोषाय कूलच्छायेव सेविता ॥ ५५ ॥
कथं वादीयतामर्वाङ्मुनिता धर्मरोधिनी ।
आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ॥ ७६ ॥

द्वादश सर्ग

वपुरिन्द्रियोपतपनेषु सततमसुखेषु पांडवः ।
व्याप नगपतिरिव स्थिरतां महतां हि धैर्यमविभाव्यवैभवम् ॥ ३ ॥
न पपात संनिहितपक्तिसुरभिषु फलेषु मानसम् ।
तस्य शुचिनि शिशिरे च पयस्यमृतायते हि सुतपः सुकर्मणाम् ॥ ४ ॥
तपसा कृशं वपुरुवाह स विजितजगत्त्रयोदयम् ।
त्रासजननमपि तत्त्वविदां किमिवास्ति यन्न सुकरं मनस्विभिः ॥६॥
प्रविवेश गामिव कृशस्य नियमसवनाय गच्छतः ।
तस्य पदविनमितो हिमवान् गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः ॥१०॥
स तदोजसा विजितसारममरादितिजोपसंहितम् ।
विश्वमिदमपिदधाति पुरा किमिवास्ति यन्न तपसामदुष्करम् ॥२९॥
न विरोधिनी रुषमियाय पथि मृगविहंगसंहतिः ।
घ्नन्ति सहजमपि भूरिभियः सममागताः सपदि वैरमापदः ॥ ४६ ॥

त्रयोदश सर्ग

न मृगः खलु कोप्ययं जिघांसुः स्खलति ह्यत्र तथा भृशं मनो मे ।

विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं वा ॥ ६ ॥
मुनिरस्मि निरागसः कुतो मे भयमित्येष न भूतयेऽभिमानः ।
परवृद्धिषु बद्धमत्सराणां किमिव ह्यस्ति दुरात्मनालंघ्यम् ॥ ७ ॥
दनुजः स्विदयं क्षपाचरो वा वनजे नेति बलं बतास्ति सत्त्वे ।
अभिभूय तथा हि मेघनीलः सकलं कम्पयतीव शैलराजम् ॥ ८ ॥
वलशालितया यथा तथा वा धियमुच्छेदपरामयं दधानः ।
नियमेन मया निबर्हणीयः परमं लाभमरातिभंगमाहुः ॥ १२ ॥
स्फुटपौरुषमापपात पार्थस्तमथ प्राज्यशरः शरं जिघृक्षुः ।
न तथा कृतवेदिनां करिष्यन् प्रियतामेति यथा कृतावदानः ॥ ३२ ॥
विस्मयः क इव वा जयश्रिया नैव मुक्तिरपि ते दवीयसी ।
ईप्सितस्य न भवेदुपाश्रयः कस्य निर्जितरजस्तमोगुणः ॥ ४० ॥
अभ्यघानि मुनिचापलात्त्वया यन्मृगः क्षितिपतेः परिग्रहः ।
अक्षमिष्ट तदयं प्रमाद्यतां संवृणोति खलु दोषमज्ञता ॥ ६३ ॥
जन्मवेषतपसां विरोधिनीं मा कृथाः पुनरमूमपक्रियाम् ।
आपदेत्युभयलोकदूषणी वर्तमानमपथे हि दुर्मतिम् ॥ ६४ ॥
सज्जनोऽसि विजहीहि चापलं सर्वदा क इव वा सहिष्यते ।
वारिधीनिव युगान्तिवायवः क्षोभयन्त्यनिभृता गुरूनपि ॥ ६६ ॥

चतुर्दश सर्ग

ततः किरातस्य वचोभिरुद्धतैः पराहतो शैल इवार्णवाम्बुभिः ।
जहौ न धैर्यं कुपितोऽपि पांडवः सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि साधवः ॥१॥
ध्रुवं प्रणाशः प्रहितस्य पत्रिणः शिलोच्चये तस्य विमार्गणं नयः ।
न युक्तमत्रार्यजनातिलंघनं दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः ॥ ९ ॥
यदि प्रमाणीकृतमार्यचेष्टितं किमित्यदोषेण तिरस्कृता वयम् ।
अयातपूर्वा परिवादगोचरं सतां हि वाणी गुणमेव भाषते ॥ ११ ॥
न वर्त्म कस्मैचिदपि प्रदीयतामिति व्रतं मे विहितं महर्षिणा ।
जिघांसुरस्मान्निहतो मया मृगो व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया ॥१४॥
अभूतमासज्य विरुद्धमीहितं बलादलभ्यं तव लिप्सते नृपः ।
विजानतोऽपि ह्यनयस्य रौद्रतां भवत्यपाये परिमोहिनी मतिः ॥१९॥
सखा स युक्तः कथितः कथं त्वया यदृच्छयाऽसूयति यस्तपस्यते ।
गुणार्जनोच्छ्रायविरुद्धबुद्धयः प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः ॥२१॥
वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिताः क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिदः ।
सहापकृष्टैर्महतां संगतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः ॥२२॥
यथास्वमाशंसितविक्रमाः पुरा मुनिप्रभावक्षततेजसः परे ।

ययुः क्षणादप्रतिपत्तिमूढतां महानुभावः प्रतिहन्ति पौरुषम् ॥४३॥
ततः प्रजह्रे सममेव तत्र तैरपेक्षितान्योन्यबलोपपत्तिभिः ।
महोदयानामपि संघवृत्तितां सहायसाध्याः प्रदिशन्ति सिद्धयः ॥४४॥
द्विषां क्षतीर्याः प्रथमे शिलीमुखा विभिद्य देहावरणानि चक्रिरे ।
न तासु पेते विशिखैः पुनर्मुनेररुंतुदत्वं महतां ह्यगोचरः ॥५५॥

पञ्चदश सर्ग

अपश्यद्भिरिवेशानं रणान्निववृते गणैः ।
मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु संभ्रमज्वलितं मनः ॥ २ ॥
त्रासजिह्मं यतश्चैतान्मन्दमेवान्वियाय सः ।
नातिपीडयितुं भग्नानिच्छन्ति हि महौजसः ॥ ६ ॥

षोडश सर्ग

पुंसः पदं मध्यममुत्तमस्य द्विधेव कुर्वन्धनुषः प्रणादैः ।
नूनं तथा नैष यथास्य वेषः प्रच्छन्नमप्यूहयते हि चेष्टा ॥ १९ ॥
अप्राकृतस्याहवदुर्मदस्य निवार्यमस्यास्त्रबलेन वीर्यम् ।
अल्पीयसोऽप्यामयतुल्यवृत्तेर्महापकाराय रिपोर्विवृद्धिः ॥ २४ ॥
उपैत्यनन्तद्युतिरप्यसंशयं विभिन्नमूलोऽनुदयाय संक्षयम् ।
तथा हि तोयौघविभिन्नसंहतिः स हव्यवाहः प्रययौ पराभवम् ॥६१॥

सप्तदश सर्ग

प्रसेदिवांसं न तमाप कोपः कुतः परस्मिन्पुरुषे विकारः ।
आकारवैषम्यमिदं च भेजे दुर्लक्ष्यचिह्ना महतां हि वृत्तिः ॥ २३ ॥
तेनानिमित्तेन तथा न पार्थस्तयोर्यथा रिक्ततयाऽनुतेपे ।
स्वमापदं प्रोज्झ्य विपत्तिमग्नं शोचन्ति सन्तो ह्युपकारिपक्षम् ॥४०॥
पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य भर्तुर्जज्ञे तदानीमुपकारिणीव ।
संभावनायामधरीकृतायां पत्युः पुरः साहसमासितव्यम् ॥ ४२ ॥

अष्टादश सर्ग

शिवभुजाहतिभिन्नपृथुक्षतीः सुखमिवानुबभूव कपिध्वजः ।
क इव नाम बृहन्मनसां भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववतां क्षमः ॥ ३ ॥
तपसा तथा न मुदमस्य ययौ भगवान्यथा विपुलसत्त्वतया ।
गुणसंहतेः समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारि सताम् ॥ १४ ॥

सहायक ग्रन्थों की सूची

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् : कालिदास

२. अलंकार सर्वस्व : रुय्यक

३. अलंकार महोदधि : नरेन्द्रप्रभ सूरि

४. अग्निपुराण

५. अथर्ववेद

६. अलंकार मणिहार : श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकाल स्वामी

७. अलंकार मंजूषा : भट्टदेवशंकर पुरोहित

८. अलंकार संग्रह : अमृतानन्दयति

९. उत्तररामचरितम् : भवभूति

१०. ऐहोल का शिलालेख

११ एकनाथ की टीका :

१२. एकावली

१३. किरातार्जुनीयम् : भारवि

१४. कौटिलीय अर्थशास्त्र : चाणक्य

१५. काव्यप्रकाश : मम्मट

१६. काव्यादर्श : दंडी

१७. काव्यालंकार : भामह

१८. काव्यलंकार सारसंग्रह : भावदेव सूरि

१९ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : वामन

२०. कठोपनिषद्

२१. कुवलयानन्द · अप्पय दीक्षित

२२. कादम्बरी : वाण

२३. कथासरित् सागर : सोमदेव

२४. गीतगोविन्द काव्य : जयदेव

२५. चाणक्यसूत्र : चाणक्य

२६. चित्रभानु की टीका

२७. चन्द्रालोक : जयदेव

२८. तर्कभाषा	: केशव मिश्र
२९. दृष्टान्तशतकम्	: कुसुमदेव
३० ध्वन्यालोक	: आनन्दवर्धन
३१. नृसिंह की टीका	
३२. नैषधीयचरितम्	: श्रीहर्ष
३३. नञ्जराजयशोभूषणम्	: नरसिंह कवि
३४. नीतिशतकम्	: भर्तृहरि
३५. नागानन्द	: हर्ष
३६. नलचम्पू	: त्रिविक्रम भट्ट
३७. न्यायदर्शन	: महर्षि गौतम
३८. न्यायमञ्जरी	: जयन्त भट्ट
३९. पञ्चतन्त्रम्	: विष्णुदेव शर्मा
४०. प्रतिमानाटक	: भास
४१. प्रतिज्ञायौगन्धरायण	: भास
४२. पृथ्वीकोंगणि का दानपत्र	
४३. विक्रमचरितम्	: विल्हण
४४. बांकीदास	: मूलकोमल्ला के दरबारी
४५. बुद्धचरितम्	: अश्वघोष
४६. भरतचरितम्	: कृष्णकवि
४७. भट्टिकाव्य	: भट्टि
४८. मुद्राराक्षसम्	: विशाखदत्त
४९. महानाटकम्	: हनुमत् कवि
५०. मेघदूत	: कालिदास
५१. मृच्छकटिकम्	: शूद्रक
५२. महाभारत	: व्यास
५३. यजुर्वेद	
५४. रसगंगाधर	: पंडितराज जगन्नाथ
५५. रामायण	: वाल्मीकि
५६. रविकीर्ति	
५७. रघुवंश	: कालिदास
५८ लोकानन्द	: वाराणसी से प्रकाशित

५९. वेणीसंहार : भट्टनारायण
६०. व्यक्तिविवेक : महिमभट्ट
६१. वृहत्कथामञ्जरी : क्षेमेन्द्र
६२. शारंगधर पद्धति
६३. शुक्ल यजुर्वेद
६४. शृंगारशतक : भर्तृहरि
६५. श्वेताश्वतर उपनिषद्
६६. शिशुपालवधम् : माघ
६७. शब्दार्थदीपिका
६८. सुभाषितावलि :
६९. सरस्वती कण्ठाभरण : भोज
७०. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ
७१. सांख्यदर्शन
७२. सोमदेव
७३. सौन्दरनन्द : अश्वघोष
७४. सदूक्तिकर्णामृत
७५. हर्षचरित : बाण
७६. औचित्यविचारचर्चा : क्षेमेन्द्र

English Books :

1. Advancement of Learning......Bacon.
2. Anatomy of Meloncholy......Burton.
3. Ancient History of the Deccan......G. J. Dubreiul.
4. Commentaries on Arthantarnyas......A. S. Bhandarkar.
5. Catalogue of the Asiatic Society of Bengal......47.
6. Catalogue of the Sanskrit Mss. in the India Office, London by Eggeling.
7. Catalogue 2140.
8. Descriptive Catalogue × ×.7885.
9. ,, ,, ,, 7873.
10. ,, ,, ,, 7883.
11. ,, ,, ,, 7701.
12. ,, ,, ,, 7703.
13. ,, ,, Deoraj Bhatt.
14. Evolution......W. H. Carrwth.
15. Early History of India......V. Smith.
16. Epigraphic India......Keilhorn.
17. Findings of Annal Bhandarkar Oriental Research Institute Poona.
18. Georgics......Virgil.
19. Hamlet......Shakespeare.
20. Hiawatha......Longfellow.
21. History of Sanskrit Literature......Keith.
22. Home of Bharavi......N. C. Chattergy in 'Proceedings of Oriental Conference' 1944.
23. Inaugural Speeches of Abraham Linchon.
24. Iliad......Homer.
25. India, What can it teach us (1st Edn.).
26. Indian Antiquary.
27. Inscriptions in Trichinopoly Cave......Venkayya.
28. Indian Office, 384 (Bhagirath Misra).
29. Journal of the Royal Asiatic Society (1897).
30. L. 2936.
31. L. 2293.
32. L. 1614.

33. Letters of Lord Chesterfield.
34. Midsummer Nights Dream......Shakespeare.
35. Melibeus......Chaucer.
36. Motto of the State of Kantucky.
37. Modern Review Calcutta......Ram Chandra.
38. Madhava......Calcutta Edition.
39. Old Testament.
40. Ovid (Latin).
41. Pallava Antiquities.
42. Peterson's Report of the Operations in search of Sanskrit Mss. in Bombay circle (I to N).
43. Romeo and Juliet......Shakespeare.
44. The Destruction of Jerusalam......Croune.
45. The Rambler......Dr. Johnson.
46. Triennial Cat. of Sanskrit Manuscripts in Oriental Library, Madras. Mangal.
47. Triennial Catalogue IV 9722.
48. Upon the Honest Manis Fortune (John Fletcher).
49. Melibeus......Chaucer.
50. Waiting......John Boroughs.

भारवि- 2433 में अर्थान्तरन्यास • डा॰ उमेश प्रसाद रस्तोगी